पिकनिक

: कहानी-संग्रह :

सरस्वती-प्रेस, बनारस

कमलादेवी चौधरी

विषय सूची

स्वप्न

'महात्माजी, सुरीला की जीवन-नौका की पतवार अब मैं आपके हाथों में देता हूँ। आपकी कृपा-दृष्टि के सिवा संसार में इस दुखिया के लिए दूसरा शान्ति का साधन नहीं है।'

'अपनी एकमात्र कन्या को अपने समीप न रखकर आश्रम में छोड़ने के लिए विकल क्यों हो?'

'महात्माजी, कभी आप मेरे मित्र थे, मेरी ज़िन्दगी आपसे छिपी नहीं है। आप महान आत्मा हो; आपने अपने जीवन में घोर परिवर्तन कर लिया है—आज तपस्वी हो। किन्तु मैं—मैं जो आज से बीस वर्ष पहले था, बिलकुल वही हूँ। केवल इतना अन्तर हुआ है कि जिस दिन से सुरीला विधवा हुई है, मुझे अपने दुर्व्यसन नरकाग्नि के समान जला रहे हैं।

'महात्माजी, मैं महानीच हूँ, पापी हूँ, दुराचारी हूँ, व्यभिचारी हूँ; किन्तु मेरी पुत्री सुरीला देवी है, लक्ष्मी है, पवित्रता की प्रतिमा है। गुरुदेव, उस पर दया करो। मुझे भय है कि मुझ पामर के दुर्व्यसनों का प्रभाव कहीं उसके पुनीत विचारों को दूषित न कर दे। अब तक वह पूर्णतः संसार के संसर्ग में नहीं आई है। वह कवि है और किसी और लोक में विचरण करती रहती है; किन्तु नवयौवन का विकास उसे इस पापी संसार से परिचित कराके रहेगा। देव, उसकी पवित्रता की रक्षा करो। वह विधवा है। मैं उसका पतित पिता उसकी आत्मोन्नति का इच्छुक हूँ। मेरी अन्तिम अभिलाषा है, मेरी देवी समान पुत्री देवी ही बनकर रहे।'

महात्मा ने सुरीला को आश्रम में रखना स्वीकार कर लिया।

(२)

महात्मा कभी बैरिस्टर थे। उनकी स्त्री लक्ष्मी ने अन्तिम समय में कहा था—दूसरा विवाह न करना, वरना मेरे बच्चों की दुर्गति हो जायगी। दूसरी मा प्यार के बदले इनसे...'

क्रूर काल ने लक्ष्मी को अपना वाक्य पूरा नहीं करने दिया; किन्तु यह अधूरा वाक्य ही बैरिस्टर दीक्षित के हृदय पर अमर छाप डाल गया। लक्ष्मी की उन्मीलित आँखें जाने कैसी व्यथा छोड़ गई थीं, वे टूटते हुए शब्द विनय की ऐसी अनन्त सीमा का दिग्दर्शन करा गये थे कि बैरिस्टर दीक्षित ने अनेक विपत्तियों का सामना किया; किन्तु दूसरा विवाह नहीं किया। उस दिन से उनके कार्यक्रम में बच्चों का लालन-पालन और मृत लक्ष्मी के चित्र का पूजन सम्मिलित हो गया।

स्त्री के देहावसान के समय बैरिस्टर दीक्षित नवयुवक ही थे। नवीन सभ्यता, पश्चिमीय शिक्षा और फ़ैशनेबिल सोसाइटी का रंग उनमें भी पूर्ण मात्रा में व्याप्त था। और शायद उनके वे ही पूर्व संस्कार चेष्टा करने पर भी उनके मन को चलायमान करते थे। हमेशा उनके हृदय में देवासुर-संग्राम छिड़ा रहता। कितनी ही बार आसुरी वृत्तियों ने अपनी विजय-घोषणा करने का निश्चय कर लिया; लेकिन लक्ष्मी की उन आँखों और शब्दों ने सदा उनकी रक्षा की।

संयम के आराधना-हेतु स्त्री-जाति से सर्वथा दूर रहने का उन्होंने निश्चय किया। उनके कई मित्र ऐसे थे, जिनकी स्त्रियों से भी उनकी काफ़ी घनिष्ठता थी। लक्ष्मी की मृत्यु के बाद उन लोगों ने बैरिस्टर दीक्षित को पूर्ण सहानुभूति के साथ बच्चों के लालन-पालन में सहायता भी दी; किन्तु बैरिस्टर दीक्षित ने उन लोगों की सहानुभूति की ज़रा भी परवा न करके उनसे मिलना-जुलना तक बन्द कर दिया। वे अपने चारो ओर के वायुमण्डल में अब स्त्री के नाम को भी स्थान देना नहीं चाहते थे।

बच्चों को पालनेवाली पुरानी आया से भी कह दिया गया कि अब घर जाओ; तुम्हारी पेंशन प्रति मास मनीआर्डर द्वारा पहुँचती रहेगी। इस मामले में बैरिस्टर दीक्षित ने न आया के आँसुओं की चिन्ता की, न बच्चों के मानसिक क्लेश की। हाँ, बच्चों को स्वतन्त्रता थी कि जब इच्छा हो, आया के घर जाकर उससे मिल आया करें। उनके अन्य कर्मचारियों में जो सपत्नीक थे, उनके वेतन में वृद्धि के साथ उन्हें आज्ञा हुई कि अलग घर लेकर अपने परिवार को रखें।

यहाँ तक कि बैरिस्टर साहब ने किसी स्त्री-मुवक्किल का केस भी लेना छोड़ दिया। अपनी कन्या सुनीता से बोर्डिंग-हाउस में मिलने तक

न जाते, क्योंकि मुख्य अध्यापिका से मुलाक़ात किये बिना लड़कियों से मिल सकना बोर्डिंग-हाउस के नियमानुसार सम्भव नहीं था। छुट्टियों में सुनीता का बड़ा भाई उसे लिवा लाता, तभी पिता-पुत्री एक-दूसरे को देख सकते थे।

इस प्रकार अनेक कठिन नियमों के आवरण में वे अपने को छिपाकर रखने लगे।

(२)

बैरिस्टर दीक्षित अपने साथ इतनी सख़्ती करने पर भी मानसिक संयम न रख पाते। हर समय मानसिक भावनाओं के साथ उनको घोर युद्ध करना पड़ता। दिन-भर किसी प्रकार विभिन्न कार्यों में चित्त को उलझाये रखते; रात में गीता-पाठ के साथ निद्रादेवी का आह्वान करते, फिर भी स्वप्न में अतीत काल के हास-विलास के दृश्य अपनी छाया डाल ही जाते।

श्यामाचरण वकील के यहाँ पार्टी है। कैलाशबिहारी आग़ा की स्त्री रागिणी आज कैसी सज-धजकर आई है। रागिणी के रूप की बराबरी करनेवाली फ़ैशनेबिल स्त्री जगत में दूसरी नहीं है। धानी साड़ी मुख पर कैसी खिल रही है।...ऐसे स्वप्न उनके चित्त को उद्विग्न कर जाते।

बैरिस्टर साहब आफ़िस में कानून का अध्ययन कर रहे हैं और बाहर बराण्डे में कोई नया मुवक्किल मुहर्रिर से गुफ्तगू करता है, तो बैरिस्टर साहब की चितेरी कल्पना सब-कुछ भुलाकर स्त्री के चित्र उनके सम्मुख खींचती। कोई सफेद साड़ी पहने विधवा होगी। पति की सम्पत्ति पर किसी ने अधिकार कर लिया होगा और अब रोटी देना भी

अस्वीकार करता होगा। लाचार मुकदमे की बात सोचकर आई है। ध्वनि से भी स्त्री ही प्रतीत होती है; संकोच से धीरे-धीरे बोल रही है।

मुहर्रिर के द्वारा मशविरा तो दे दूँगा; किन्तु केस अपने हाथ में नहीं लूँगा। उसी समय मुहर्रिर कमरे में आता, बैरिस्टर साहब की निमग्नता में बाधा पड़ती; वे कुछ कम्पित हृदय से कल्पनानुसार सुनने की प्रतीक्षा करते। मुहर्रिर कहता—साहब, छदम्मीलाल नामक एक मुवक्किल आया है।

लज्जा और ग्लानि से चित्त चंचल हो उठता। वे सोचते—यह क्या है ? पहले तो मेरी मानसिक स्थिति ऐसी दुर्बल नहीं थी। प्रवृत्तियों के पराजित करने के साधन उल्टे मुझे ही पराजित कर रहे हैं और मानसिक उन्नति के मार्ग से विमुख करके पतन के मार्ग की ओर आकृष्ट करते हैं। क्या उपाय करूँ भगवन् !

(४)

पुत्र-पुत्रियों के कर्तव्य से निवृत्त होकर बैरिस्टर दीक्षित ने संन्यास ले लिया। हिमालय की पहाड़ियों में भ्रमण करते हुए एक पहुँचे हुए महात्मा से उनका साक्षात हुआ। उसी दिन वे उनके शिष्य हो गये।

महात्मा वात्सव में एक दिव्य पुरुष थे। संसार से विरक्त होकर वर्षों उन्होंने कठिन तपस्या की थी। बहुत दिनों तक मानव-समाज से परे भयानक जंगलों और दुर्गम पहाड़ों में विचरण करते रहे थे; किन्तु अपनी साधना को सफलीभूत करके अब फिर मानव-समाज के उपकार की कामना से इस ओर आ गये थे। योगिराज की इच्छा एक आश्रम बनाने की थी, जिसमें भटकते हुए प्राणियों को शान्ति और अध्यात्म-वाद का अध्ययन करने का अवसर मिले; साथ ही निर्धनों के लिए वे

एक चिकित्सालय भी खोलना चाहते थे। उन्हें अनेक सजीवनी जड़ी-बूटियों का ज्ञान था।

बैरिस्टर दीक्षित ने अपनी सम्पत्ति का आधा भाग देकर योगिराज की इच्छा पूरी की और स्वयं भी उनके साथ आश्रम में रहकर सेवा और उपासना में तन्मय हो गये।

योगिराज की कृपादृष्टि से पूर्ण शान्ति भी प्राप्त हुई, और थोड़े ही दिनों में कठिन अभ्यास और तपस्या के द्वारा वे एक महान् तपस्वी बन गये। योगिराज के अनेक शिष्यों में बैरिस्टर दीक्षित का स्थान सर्वप्रथम था। चारों ओर उनकी ख्याति फैल रही थी। उन पर भी लोगों की श्रद्धा-भक्ति उनके गुरु से कम न थी।

योगिराज के शरीर छोड़ देने पर आश्रम ने गुरुदेव के पद के योग्य बैरिस्टर दीक्षित को ही समझा और उसी दिन से उन्हें महात्मा की पदवी भी मिल गई। अब वे बैरिस्टर दीक्षित नहीं, एक प्रसिद्ध महात्मा थे।

(५)

सुरीला को आश्रम की सीढ़ियों पर बिठाकर उसके पिता गुरुदेव के दर्शन करने गये थे। सुरीला सुदूर तक गंगा की उज्ज्वल जलधारा का अवलोकन करती हुई अपने विचारों में निमग्न थी—पिता मुझे संन्यास लिवाना चाहते हैं; कहते हैं, इन महात्मा की कृपा से मुझे कृष्ण भगवान के दर्शन हो जायँगे, मुझे शान्ति मिलेगी। जिन नटनागर के स्वप्न मैं अपनी कविताओं में अंकित करती रहती हूँ, उनके दर्शन पाने से बढ़कर और क्या सौभाग्य हो सकता है, किन्तु पिता से विलग होना भी तो आसान नहीं है। और अपने अन्दर

अशान्ति तो मुझे कुछ प्रतीत होती नहीं। लोग मुझे दुखिया समझ-कर मुझ पर करुणा का भाव दिखलाते हैं, मेरे दुख पर आँसू बहाते हैं ; पर मैं तो बहुत सुखी हूँ। पिता मुझे कितना प्यार करते हैं !

मेरे मा नहीं हैं, भाई-बहन भी नहीं हैं, मैं अकेली हूँ ; लेकिन यह अकेलापन अब तक तो कुछ अखरता नहीं है। कितने तो काम हैं, मुझे यह सोचने की फ़ुर्सत ही कब मिलती है कि मैं अकेली हूँ।

पति के मैंने दर्शन ही नहीं किये। कभी-कभी मन दुखी अवश्य होने लगता है। मेरा विवाह पिता ने इतनी छोटी उम्र में क्यों कर दिया ? विलायत जाते समय पतिदेव मुझसे मिलने आये थे ; पर लज्जावश मैं उनके समीप गई ही नहीं। वे नाराज़ होकर प्रातः ही चले गये, और विदेश ही में उनकी मृत्यु हो गई। यह ख़याल अवश्य हृदय को ठेस पहुँचाता है।

पिता को छोड़कर मैं यहाँ कैसे रहूँगी ? यह आश्रम तो मेरे घर-जैसा भी नहीं है। गंगा का किनारा होने से कुछ सुहावना अवश्य जान पड़ता है। मुझे यहाँ फुलवारी लगाने को कहाँ मिलेगी ? कविताएँ भी शायद ही लिख सकूँ। महात्मा की आज्ञा पर ही तो चलना होगा न।

और फिर पिताजी को कितना कष्ट होगा ? अँधियाले ही चाय पीते हैं। कोई नौकर भी इतने सवेरे न उठ सकेगा। और मेरी मैना मुझे न देखकर व्याकुल हो जायगी। मदनगौर बिना मेरे खिलाये आधा चारा भी नहीं खायगा।

कहीं नौकरों ने संध्या समय कबूतरों को बन्द नहीं किया, तो उन्हें बिल्ली खा जायगी। मेरे पीछे मेरी फुलवाड़ी उजड़ जायगी।

मेरी सारी चिड़ियाँ मर जायँगी। मिसरानी के बनाये खाने से पिताजी का पेट भी नहीं भरेगा। वे और भी दुबले हो जायँगे, खाँसी भी बढ़ जायगी।

सम्भव है, हर समय शराब ही पीते रहें। अभी तो मैं बहुत देर तक उन्हें बातों में लगा लेती हूँ, ताश खेलती हूँ, गाना सुनाती हूँ और संध्या को चिड़ियाख़ाने की सैर कराती हूँ। फिर संध्या से ही बोतल लेकर बैठ जाया करेंगे। परमात्मा, क्या होगा? मैं तो चुपके से शराब में पानी मिला देती हूँ, मेरे पीछे ख़ालिस शराब की पूरी बोतल ही पी गये, तो फिर मुँह से ख़ून गिरने लगेगा। कुछ भी हो, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मेरे पिता शराब पीते हैं, तो क्या हुआ? उनके बराबर मेरे लिए कौन हो सकता है? कौन मुझे वैसा प्यार करेगा? मैं यहाँ किसी प्रकार भी नहीं रहूँगी; किन्तु पिता को कैसे समझाऊँ, वे नाराज़ हो जायँगे, दुखी होंगे। सोचते-सोचते सुरीला के सुन्दर नेत्रों से बड़े-बड़े मोती-जैसे आँसू टपकने लगे।

महात्मा का शिष्य शेखर स्नान करके आ रहा था। दूर से सुरीला उसे श्वेत संगमरमर की प्रतिमा-सी जान पड़ी। सीढ़ी पर वह ठिठक गया—कोई दुखिया है, रो रही है। उसने मीठी वाणी में पूछा—देवी, रोती क्यों हो? क्या मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकता हूँ?

सुरीला पुरुषों के संसर्ग में नहीं रही थी; लेकिन प्रकृति से ही वह निर्भीक थी। लज्जा के वातावरण में वह पड़ी ही न थी। उसने बालकों की भाँति आँसू पोंछते हुए पूछा—तुम महात्मा के पुत्र हो?

'मैं महात्माजी का शिष्य हूँ। वे मुझ पर पुत्र की भाँति ही स्नेह करते हैं।'

'तो तुम कुछ न कर सकोगे ; इसी आश्रम के हो न ?'

'आश्रमवासी होने से क्या हुआ ? कुछ कहो भी तो। सम्भव है, मैं तुम्हारा कुछ उपकार कर सकूँ। हम लोगों का ध्येय ही तो परोपकार है।'

सुरीला ने क्षण भर पहले सोची हुई सारी बातें शेखर को सुना दीं और बोली—क्या अब तुम मेरे पिता से सिफारिश कर सकोगे ? यों तो मेरे पिता मेरी प्रत्येक इच्छा पूरी करते हैं ; मगर उनका विचार जम गया है कि इस आश्रम में रहने से मेरा कल्याण होगा।'

शेखर ने अत्यन्त मधुर शब्दों में सुरीला के पिता के विचारों का समर्थन किया और अनेक प्रकार से सान्त्वना देते हुए उसने कहा—इसमें क्या हर्ज है ? पिता के आज्ञानुसार कुछ दिन यहाँ रह देखो। यदि मन न लगे, तो चली जाना। यहाँ किसी प्रकार का बन्धन थोड़े ही है। तुम्हारी स्वतन्त्रता में भी बाधा नहीं पड़ेगी। अपनी इच्छानुसार कविता भी कर सकोगी, फुलवारी में विचरण भी कर सकोगी। यहाँ शिक्षा आदि के अनेक साधन हैं। चलो, तुम्हें यहाँ का पुस्तकालय और चित्रशाला दिखलाऊँ। यहाँ तुम चित्रकला, चिकित्सा, संगीत-कला आदि का भी अध्ययन कर सकती हो।

सुरीला को यह जानकर बहुत सान्त्वना मिली कि शेखर भी कवि है। यहाँ उसे सहानुभूति भी मिल सकती है। शेखर के शब्दों में जाने कैसी मोहनी थी कि सुरीला आश्रम में रहने को तैयार हो गई।

पिता शीघ्र-शीघ्र आने का वादा करके चले गये।

(६)

सुरीला और शेखर में मित्रता हो गई। आश्रम में स्त्री-पुरुषों के

परस्पर मिलने-जुलने के लिए कोई ख़ास नियम नहीं था। सबको पूर्ण स्वतन्त्रता थी। दोनो आश्रम के कार्य, पूजा-उपासना आदि से निवृत्त होकर कलकल-नादिनी गंगा के तट पर बैठकर कविता लिखते, कभी वार्तालाप करते और कभी अध्यात्मवाद का विषय लेकर वाद-विवाद करते। दोनो के विचारों में किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं थी। वे यथाशक्ति गुरुदेव के बताये मार्ग पर चलते। गुरु के उपदेशानुसार ही अध्ययन, उपासना तथा अभ्यास करते।

किन्तु गुरु को यह मैत्री खटकी। एक नवयुवक और नवयुवती का इस प्रकार हर समय का साथ, एक का दूसरे के प्रति इतना अनुराग, उचित नहीं है। सयम में विघ्न पड़ सकता है। शेखर अभी अभ्यास ही कर रहा है, तपस्वी नहीं बन पाया है, और सुरीला को तो आश्रम में प्रविष्ट हुए अभी कुछ ही दिन हुए हैं। गुरुदेव ने अपने ये विचार किसी पर प्रकट तो नहीं किये ; पर इन दोनो पर कड़ी दृष्टि रखना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने शेखर से कहा—पुत्र, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। भगवान तुम पर शीघ्र प्रसन्न होंगे। अब वह समय आ गया है कि तुम कुछ दिनों तक एकान्तवास में तपस्या करो। एक सप्ताह बाद तुम्हें एक पहाड़ की कन्दरा में जाना होगा।

शेखर ने मस्तक नत करके गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार की। गुरु ने सुरीला को नीचे से बदलकर छत पर अपने कमरे के समीप एक दूसरा स्थान दे दिया। सुरीला के मन में शंका हुई—क्या गुरु मेरे ऊपर सन्देह करते हैं?' किन्तु उसने स्वयं ही अपने विचार की निन्दा की और गुरु की श्रद्धा-भक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया।

उस दिन रजनी दुग्ध-स्नान कर रही थी। उसके शरीर से दुग्ध

धारा ने बहकर सारी प्रकृति को श्वेत बना दिया था। उसी श्वेत वाता-वरण में हरी घास की सुकोमल शय्या पर बैठे सुरीला और शेखर वार्तालाप कर रहे थे। शेखर ने कहा—सुरीला, गुरुदेव की आज्ञा से अब मैं एक मास के लिए एकान्तवास करने जाऊँगा।

सुरीला पर वज्रपात हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय की धड़कन बन्द हुई जाती है। वेदना उसके हृदय को मसलने लगी। वह भयभीत हिरणी की नाईं छलकते आँसुओं से शेखर का मुँह निहारती रह गई।

सुरीला की यह दशा देखकर शेखर का मन भी जाने कैसे होने लगा; किन्तु उन्होंने हृदय को दृढ़ करके कहा—घबराती क्यों हो? शान्ति से चित्त को एकाग्र करके रहो। गुरु के उपदेशों पर मनन करना, तुम्हारा चित्त सावधान हो जायगा।

सुरीला ने कहा—शेखर, तुम चले जाओगे, तो मैं किसी प्रकार भी यहाँ न रह सकूँगी। मुझे पिता के यहाँ पहुँचा दो।

'नहीं, सुरीला, इतने दिनों के अभ्यास को इस प्रकार न तोड़ो। मैं गुरुदेव से प्रार्थना करूँगा कि वे अब तुम्हें अधिक समय दें। गुरु के उपदेशों से तुम्हें शान्ति मिलेगी।'

घबराकर सुरीला ने कहा—नहीं, शेखर ऐसा न करना; बल्कि गुरु से कहो, मुझे भी एकान्तवास की आज्ञा दें।

'ऐसा तो नहीं हो सकेगा, सुरीला! गुरुदेव तुम्हें एकान्तवास में जाने की आज्ञा नहीं देंगे। अभी तुम उस कठिन तपस्या में सफल न हो सकोगी।'

'तो शेखर, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मुझे क्षमा करना, शेखर, गुरु से मुझे एक प्रकार का भय लगता है। उनसे अधिक मुझे तुम पर...'

बीच ही में बात काटकर शेखर ने ताड़ना के शब्दों में कहा—कैसी बातें करती हो, सुरीला ! गुरुदेव पर भक्ति करो।

काँपते हुए स्वर से सुरीला ने कहा—शेखर, मैंने अनेक बार देखा है, गुरु छिपकर हम दोनो की बातें सुनते हैं।

'तो दोष क्या है ? हम लोगों पर दृष्टि रखना गुरु का कर्तव्य है।'

सिसकते हुए सुरीला बोली—इतना ही नहीं, शेखर, रात्रि में मुझे कई बार शुबहा हुआ, किवाड़ की दराज़ में से कोई मेरे कमरे में झाँकता है। तुमने जो अपना चित्र बनाकर मुझे दिया था, वह मेरे कमरे से कोई चुराकर ले गया। मुझे यह काम गुरु का ही जान पड़ता है। मैं यहाँ नहीं रहूँगी, या फिर तुम कुछ दिनों बाद जाना।

सुरीला सिसक-सिसककर रोने लगी। क्षणभर मौन रहने के बाद उसने शेखर से कहा—शेखर, मेरा मन तुमसे भय नहीं खाता है।

इस सरलता पर शेखर हँस दिया। और इस समय इस प्रसंग को भुलाने के लिए उसने कहा—आओ, कुछ देर रामायण का पाठ करें।

(७)

सुरीला रामायण गाने लगी। शेखर आधा लेटा हुआ सुनने लगा। पुष्पवाटिका का मनोरम प्रसंग चल रहा था। दोनो तुलसीदास के भक्ति-रस का स्वाद ले रहे थे, बिलकुल रामायण में तन्मय थे।

और गुरु ? गुरु छत की खिड़की पर आधी रात में दोनो के बीच का भेद लेने बैठे थे। जाग्रत अवस्था में ही गुरु को स्वप्न-सा भान हुआ—यह सुरीला कितनी सुन्दर है, मानो सौन्दर्य स्वय देवी-रूप में प्रकट हुआ है। रागिणी का रूप इसकी छाया के बराबर भी न था।

गुरु चौंक पड़े। आज वर्षों बाद अतीत काल की स्मृति क्यों हिलोरें लेने लगीं ? 'हरि ओ३म्' उच्चारण कर के गुरु ने आकाश पर हँसते हुए चन्द्रमा को देखा और फिर क्षितिज पर बैठी हुई सुरीला पर दृष्टि डाली। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो चन्द्रमा का कुछ भाग टूटकर सुरीला बन गया है। उन्हें प्रतीत होने लगा कि भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की है। सुरीला चन्द्रमा का अंश ही नहीं, रामायण की सीता भी है, विष्णु की लक्ष्मी भी है, कृष्ण की राधिका भी है और कामदेव की सौन्दर्यवती रति भी है। गुरु बेसुध होकर, भक्ति-सागर में डूबकर, राधा, लक्ष्मी, सीता के दर्शनामृत का पान करने लगे।

इस समाधिस्थ अवस्था में कितना समय व्यतीत हो गया, गुरु जान ही न सके। कुक्कुट ने मदमाती बाँग से ऊषा के आगमन की सूचना दी, तो शेखर ने कहा—सुरीला, उठो, आज आश्रम की धुलाई करने की हम लोगों की पारी है। मैं पानी लाता हूँ, तुम चलकर पहले गुरुदेव का कमरा झाड़ दो।

गुरु खिड़की पर सर रखे निद्रा में निमग्न थे। यह समय तो उनका वायु-सेवन के लिए आश्रम से बाहर जाने का है। सुरीला झाड़ू लिये गुरु के जागने की प्रतिक्षा में द्वार पर खड़ी रही। गुरु मनोरञ्जक स्वप्न देख रहे थे—वृन्दावन विजन वन में चन्द्रदेव पूर्ण कलाओं से शोभायमान हैं। मनोमुग्धकारी रजत चन्द्रिका विपिन को सौरभ दान कर रही है, और उसी विमल चाँदनी की शय्या पर सौ चन्द्रमा की कान्ति को लजित करनेवाले भगवान कृष्ण दाहने कर में मुरलिका लिये नृत्य कर रहे हैं, और उनके बाएँ पार्श्व में प्रियतमा राधिका शोभा पा रही हैं।

अनेक देवताओं के साथ गुरु भी विमान पर बैठे पुष्प-वर्षा कर रहे

हैं। भक्तवत्सल भगवान कृष्ण ने मुरलिका ऊपर उठाकर गुरु को समीप आने का संकेत किया। भक्ति में उन्मत्त होकर गुरु विमान से कूद पड़े और भगवान ने उन्हें अपने में लीन कर लिया। अब भगवान कृष्ण और गुरु जुदा नहीं थे।

फिर एक बार राधिका के मुख पर दृष्टि डालकर मुरलीमनोहर ने कहा—प्रिये, संसार में तुम सुरीला थीं और मैं महात्मा था। अभी मृत्युलोक में फिर चलकर प्राणियों का उद्धार करना है।

इतना कहकर भगवान पूर्ण गति से नृत्य करने लगे। रासलीला समाप्त कर वे राधिका को लेकर फिर संसार में चले आये। अभी पृथ्वी का पूर्णोद्धार नहीं हुआ था।

राधिका बोली—प्राणेश, क्या मुझे अभी और विलग रहना होगा। इस बार की जुदाई तो सीता-वनवास से भी अधिक हो गई, देव !

कृष्ण ने राधिका को आलिंगन कर लिया और बोले—नहीं प्रिये, अब हम-तुम साथ रहकर ही पृथिवी का उद्धार करेंगे।

जागकर भी गुरु को चेतना नहीं हुई। उन्मत्त की भाँति सुरीला का हाथ पकड़कर बोले—राधिका, प्रिये...

सुरीला गुरु का हाथ झटककर चीख़ती हुई भागी—मुझे बचाओ, शेखर !

शेखर जल की बाल्टी लेकर सीढ़ियाँ पार कर चुका था। यह दृश्य देखकर अप्रतिभ-सा खड़ा रह गया। उसी समय सुरीला बिजली की भाँति टूटकर उसके पैरों के समीप गिर पड़ी। बाल्टी की कोर माथे में घुस गई और ख़ून की धारा बह निकली।

बेसुध-सी सुरीला को गोद में उठाकर शेखर आश्रम से बाहर हो

गया। सारे आश्रम में कोलाहल मच गया। घटना का पता लगाने के लिए आश्रमवासी गुरु के समीप गये ; लेकिन दरवाज़े बन्द थे। सबों ने समझा, गुरु समाधि में हैं। शेखर ने बिना कुछ कहे ही साथियों से विदा माँग ली।

पिता से चिपटकर सुरीला ख़ूब रोई। पिता भी रोने लगे।

'अच्छा किया, आ गई, सुरीला ! अब मेरा अन्तिम समय निकट जान पड़ता है।'

बात करते-करते उनके मुँह से लाल-लाल रक्त बहने लगा। शेखर उपचार में लग गया। सुरीला और भी बिलख उठी—मुझे अपने से जुदा करके तुमने अपनी क्या गति कर ली, पिताजी !

× × ×

नौकर ने शेखर के नाम एक पत्र लाकर दिया—

'शेखर, सुरीला ने मेरी आँखें खोल दीं। मैं भ्रम में था। जिसे अब तक स्वप्न समझा था, वास्तव में हकीकत थी, और जिसे हकीकत समझी थी, वही स्वप्न था। मुझे अपने मार्ग का दिग्दर्शन अब हुआ। मैं जाता हूँ और आश्रम का भार तुम दोनों पर छोड़ता हूँ। तुम सुरीला से विवाह कर लो, तुम्हारा कल्याण होगा। मानुषिक प्रेम द्वारा ही तुम्हें दिव्य प्रेम का परिचय मिलेगा। प्रवृत्तियों के दमन करने से नहीं, बल्कि उन्हें आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित करने से ही वास्तविक शान्ति की प्राप्ति होगी। यही तुम्हारे गुरु का अन्तिम उपदेश है।'

करुणा

काले-काले बादल सारे दिन घिरे रहे, फिर भी वर्षा न हुई। उमस के कारण आज बरसात की सन्ध्या ने भी उग्र रूप धारण कर लिया था। आतप के कारण मानव-समाज ही नहीं, पशु-पक्षी तक विकल जान पड़ते हैं; किन्तु इस भयावने वायुमंडल में केवल करुणा किंचित सुख का अनुभव कर रही थी। उसके लिए वातावरण का यह प्रबल प्रकोप, गर्मी की यह तीव्रता, मानो कुछ सामर्थ्य ही नहीं रखती। आज के दिन भी अपना सारा समय उसने चूल्हे के समीप व्यतीत किया है; फिर पूर्णिमा का व्रत है, अब तक मुँह में पानी भी नहीं गया है। सारी साड़ी पसीने से तर है, मरोरियों से शरीर भरा पड़ा है; किन्तु इस समय वह मानो इनसारी विपत्तियों को भूल गई है।

खुली छत पर दीवार के सहारे खड़ी वह निर्निमेष दृष्टि से काले-काले बादलों का संघर्ष देख रही है। आज कितने दिनों बाद इस खुली छत पर खड़े होने का क्षणिक अवसर उसे प्राप्त हुआ है। वह बिल्कुल तन्मय है, उसे कुछ सुध नहीं है। हाँ, उसका जी इस समय वैसा भारी नहीं है। इस समय उसके पास सुख की, आज़ादी की एक किरण है, यह वह भूली नहीं है, और मानो उसी सुख को पूर्णरूपेण भोगने के लिए वह इस प्रकार खड़ी है। कुछ देर के लिए वह दासत्व को भूलकर प्रभुत्व का अनुभव कर रही है—आज उसे इतनी स्वाधीनता, इतना अधिकार है कि वह अपने इच्छानुसार रसोई का कार्य कुछ देर को बन्द करके खुली हवा में साँस ले सके।

हिन्दू विधवा के लिए यह सुख क्या कुछ कम है? परदे में गिरफ़्तार रहनेवाली स्त्रियाँ इसका यथेष्ट अनुभव कर सकती हैं। उन्हें कभी रेलगाड़ी के ज़नाने डिब्बे में बैठने का अवसर मिल जाता है, तो वे खिड़की से बाहर सर निकालकर कैसी प्रसन्न होती हैं। प्राकृतिक दृश्य-अवलोकन का यह क्षणिक सुख उनके लिए स्वर्गीय वस्तु होती है। वैसी ही कुछ दशा इस समय करुणा की थी।

इसके अतिरिक्त जिसके हृदय के भीतर इस उमस से भी कई गुनी अधिक उमस उठ रही है, इस आतप की ज्वालाओं से भी भीषण ज्वालाएँ जो अपने भीतर छिपाने की अभ्यस्त है, उसके लिए प्रकृति का यह प्रकोप कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखता।

(२)

करुणा अधिक देर इस प्रकार तन्मय न रह सकी। नीचे से आवाज़ आई—मझली बहू, दूधवाला खड़ा है, कितना दूध लिया जाय?

आज मालकिन की ग़ैरहाज़िरी में यह अधिकार भी करुणा को प्राप्त है। उसने छत पर से ही उत्तर दे दिया—चार सेर दूध ले लो।

आज्ञा देने के साथ ही ध्यान आया, वह अपने को भूली क्यों जा रही है, रोज़ की भाँति आज भी उसे अपने सामने दूध नपवाना चाहिये। यदि नौकर ने ज़रा भी काट-छाँट की तो सारा अपराध करुणा के सर मढ़ा जायगा। किन्तु करुणा ने अपने इस विचार की उपेक्षा कर के कुछ क्षण और निश्चिन्तता-पूर्वक व्यतीत करने का निश्चय किया। वह सोचने लगी—मैं विधवा हूँ, क्या इसी लिए संसार में मेरे लिए अब सुख का कोई साधन नहीं है? मालूम नहीं, अभी कितने महीने, कितने दिन, और कितने लम्बे-लम्बे वर्ष व्यतीत करने हैं, और उन वर्षों का एक-एक क्षण मुझे इसी प्रकार काटना है। सारे जीवन में अब एक मिनट को भी आज़ादी मयस्सर होना दुर्लभ है। गुलामी करके पेट पालना, शरीर से मशीन की तरह काम देकर भी गालियाँ खाना, व्यर्थ में लांछित होना, संसार के सारे अवगुणों का ख़जाना बनना, बस, अब यही तो मेरी ज़िन्दगी का प्रोग्राम है। विधवा—हिन्दू विधवा—शरीफ़ घर की विधवा के लिए कोई दूसरा उपाय ही नहीं।

जिस किसी से पूछती हूँ, पुस्तकों में, पत्रों में, अपने प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ती हूँ, तो केवल एक ही जवाब मिलता है—विवाह कर लो। मुझसे थोड़ी भी सहानुभूति रखनेवाले यही कहते हैं, शान्ति से जीवन व्यतीत करना है, तो विवाह कर लो, नहीं तो सारे जन्म इसी प्रकार अशान्ति की चक्की में पिसना पड़ेगा। और उस चक्की में पिसना भी कुछ आसान नहीं। जिस पर बीतती है, वही जानता है।

करुणा का अनुभव भी यही बताता है। वह भी अवसर मिलते

ही सोचती है, इस प्रकार सारा जीवन कैसे बीतेगा ? रोने से भी तो अब यह आग शान्त नहीं होती ; वह साधन भी तो पुराना हो गया है। रात-दिन बहनेवाले इन आँसुओं में भी कोई सार नहीं रह गया है। क्या करूँ ? विवाह ! एक ही उपाय है विवाह ! किन्तु यह उपाय मेरे बस का नहीं।

कितने वर्ष बीत गये, आज तक वह सूरत भूलती नहीं। सुहागरात की वह स्मृति ज्यों-की-त्यों हृदय-पटल पर अंकित है। हृदय पर ही नहीं, आँखों में ही नहीं, बल्कि शरीर के अणु-अणु पर पतिदेव का चित्र अंकित है। सारी बातें आज की-सी जान पड़ती हैं। विवाह की छोटी-छोटी रीति-रिवाज़ तक की बातें भूली नहीं हैं। फिर दूसरा विवाह कैसे करूँ ? जब हृदय पर एक चित्र खिंचा हुआ है, और दिन-पर-दिन उस चित्र का रंग पक्का होता जाता है, तो फिर उस चित्र को मिटाकर वहाँ दूसरा कैसे अंकित करूँ ?

यह विवाह मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। तो फिर क्या अन्य कोई इलाज नहीं ? बिना स्वार्थ के सम्मिश्रण से मेरे लिए कोई सहारा नहीं ? संसार में मुझसे कोई सर्वथा निःस्वार्थ प्रेम करनेवाला नहीं ? हाँ, शायद नहीं है। क्या नहीं देखती हूँ कि जेठजी, जिठानीजी की हाँ-में-हाँ मिलाकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए, नौकर-चाकर, आये-गये, सभी के सामने मुझे लांछित करते हैं, मानो वे भूल ही जाते हैं कि मैं उन्हीं के समृद्ध परिवार की एक सदस्या हूँ, उन्हीं के कनिष्ठ भाई की दुखिया विधवा हूँ।

जब जिठानीजी अपने मायके गई थीं, तब वे मुझपर कितना अनुराग दिखाते थे। मेरी कैसी फ़िक्र रखते थे, और मेरी ही चिन्ता में शायद उन्हें सारी रात नींद भी नहीं पड़ती थी। रात में कितनी

ही बार दरवाज़े खुलवाते—कभी प्यास लगती, कभी पंखे की ज़रूरत होती, और मेरी ओर से कोरा जवाब पाकर आज वे मेरे शत्रु से भी बढ़कर हो गये हैं। कुत्ते के समान अब उनके घर में गुज़र करती हूँ, इसको उन्हें कोई चिन्ता नहीं, बल्कि अत्याचार कराने में आज वे जिठानीजी का दाहना हाथ बन रहे हैं। यदि मैं उनके स्वार्थ की पूर्ति कर देती, तो आज इस घर पर मेरा ही प्रभुत्व होता। अधिकार, आज़ादी, सम्पत्ति, हुकूमत, किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होता। इन्हीं जेठजी से यदि मैं भाई-जैसे व्यवहार की आशा करूँ, या नौकरानी की भाँति किंचित दया की भी उम्मेद करूँ, तो वह असम्भव है, और स्वार्थवश वे मुझपर सब कुछ वारने को तैयार हैं! सोचते-सोचते करुणा का हृदय व्यथा से भर गया, उसे होश ही नहीं था कि आँखों से आँसुओं का दरिया उमड़ रहा है।

एकदम द्वार पर मोटर की आवाज़ आई, और करुणा आँसू पोंछती हुई नीचे भागकर रसोई के भीतर चली गई।

(३)

आज करुणा का छोटा देवर विलायत से आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर देश लौटा है। घर के बच्चे-बूढ़े सब उसी के स्वागत के लिए स्टेशन गये थे, केवल करुणा घर में अकेली थी। विधवा को शुभ कामों में भाग लेने का अधिकार ही क्या है? जिठानीजी चलते समय उसे सावधान कर गई थीं कि लल्ला के घर में आने पर कहीं पहले तुझ कुलक्षणी पर ही दृष्टि न पड़ जाय!

इसी मोटर की आवाज़ सुनकर करुणा रसोई में घुस गई, और वहीं से, दरवाज़े की ओट में खड़ी होकर, कई वर्ष बाद लौटे हुए देवर को देखने लगी। अपना मुँह दिखाने की हिम्मत उसमें कहाँ से आती, जब कि वह उसके भाई को खा चुकी थी!

आई० सी० एस० होनेवाला नवकुमार अन्य हिन्दुस्तानी लड़कों से विपरीत प्रकृति का था। इतने दिनों विदेश में रहकर उसने केवल फ़ैशन सीखकर अपनी पशुवृत्तियों को जाग्रत नहीं किया था। उसका ध्येय केवल शिक्षा ग्रहण करना था, और सचमुच उसने विलायत में रहकर ख़ूब अध्ययन किया था। विदेश ही में उसने निश्चय कर लिया था कि भारतीय आदर्श में इस पाश्चात्य सभ्यता के उत्तम गुणों का सम्मिश्रण करूँगा।

स्वदेश-प्रेम तथा स्वजनों के स्नेह से ओत-प्रोत हृदय लिये हुए उसने आँगन में प्रवेश किया। घर में पैर रखते ही उसका मन भर आया। माता और मझले भाई के अभाव ने उसके हृदय को व्यथित कर दिया। माता तथा भाई की मृत्यु का समाचार विदेश ही में उसे मिल चुका था, और जी भरकर एकान्त में वह रो भी चुका था ; किन्तु घर देखकर आज उसके लिए वह दुख फिर ताज़ा हो गया।

माता जीवित होती, तो आज किस स्नेह से, किस ललक से उसे छाती से लगाती, वह वात्सल्य अब संसार में मिलना असम्भव है। मझले भाई कैसे सहृदय थे, कितने विनोद-प्रिय थे, नवकुमार को कितना प्यार करते थे ! आज वे ज़िन्दा होते तो नवकुमार को देखकर उनकी प्रसन्नता की सीमा न रहती, घर-भर में वे चहल-पहल मचा देते। आज बिना उनके चारो ओर सन्नाटा है। चलते समय तक मँझले भैया और भाभी ने मुझे कितना हँसाया था। भैया के समान भाभी की भी प्रकृति थी, हर समय मुँह पर हँसी अठखेलियाँ करती रहती थी। चलते समय भी मज़ाक करती रहीं—मेम न ले आना, जो मेरी बेक़द्री हो जाय। हाँ, सिवा जूते साफ़ करने के मैं उसका और क्या लाड़-प्यार कर सकूँगी। राजा भैया की तरह लौट आना, आने पर यहाँ ही चाँद-सी बहू ढूँढ़ दूँगी।

किन्तु मझली भाभी तो जीवित हैं, पर कहाँ हैं? दीखीं क्यों नहीं? उसने चारों ओर दृष्टि डालते हुए कहा—बड़ी भाभी, मझली भाभी कहाँ हैं?

धीरे से स्नेह दिखाते हुए बड़ी भाभी ने उत्तर दिया—छोटे बाबू, पहले यह दही-बताशे खा लो, फिर भाभी को बुला लेना।

पास खड़ी कई बूढ़ी स्त्रियाँ गर्दन हिलाकर बड़ी बहू की बात का अनुमोदन और उसकी प्रशंसा करने लगीं—हाँ बहू, सास के पीछे घर की बड़ी तू ही है, शुभ-अशुभ का ध्यान रखना ही चाहिये। देवर और लड़का समान होता है।

नवकुमार को बड़ी भाभी का स्नेह तनिक भी न रुचा। वह बोला—यह क्या, मझली भाभी क्या घर में हैं? बताओ, कहाँ हैं? मैं उनके चरण-स्पर्श किये बिना कुछ भी न खाऊँगा। मेरे लिए आज भैया के स्थान पर वही हैं।

कितने दिनों बाद करुणा के कानों में सहानुभूति और स्नेह-भरे ये शब्द सुनाई दिये। वह नवकुमार पर स्वयं भी बहुत स्नेह रखती थी, और देवर का हृदय भी उससे छिपा नहीं था। अब वह अपने को अधिक न रोक सकी। मैली धोती का पल्ला सँभालती हुई रसोई से निकल आई।

नवकुमार ने दौड़कर भाभी के चरण-स्पर्श किये, और भाभी की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। मातृ-स्नेह क्या वस्तु है, मातृ-वात्सल्य में कैसी विलक्षण शक्ति है, मातृ-हृदय प्रेम की कैसी उत्कट वेदना का श्रोत है, उसमें कैसी मर्माहत पीड़ा भरी है, करुणा ने इस अनोखी ममता का स्वाद पूर्णतः नहीं जाना था। विवाह के कुछ दिन बाद उसके एक पुत्र हुआ था, उस समय तो उस पुत्र का गर्भ में प्रवेश

करना कुछ रुचिकर नहीं जान पड़ा था। पति ने भी कहा, ईश्वर ने अभी से सर पर यह बवाल डाल दिया। पुत्र का मुख देखकर अवश्य ही उसे एक प्रकार की प्रसन्नता हुई थी, और कुछ घंटे बाद उसके सिधार जाने पर हृदय में भारी व्यथा भी उत्पन्न हुई थी। पर करुणा के पति ने शीघ्र ही अपने प्रेम के प्रभाव से उस व्यथा को भुला-सा दिया था; किन्तु वास्तव में करुणा उसे भूल नहीं सकी थी। इस बात को पहले वह स्वयं भी नहीं जान सकी; पर पति की मृत्यु के बाद वह भली प्रकार समझ गई थी कि उस व्यथा का अंकुर हृदय के किसी कोने में छिपा हुआ था।

और अब तो बहुधा उसे कुछ घटे के उस अतिथि की याद आ जाती है। वह सोचती है—यदि आज वह जीवित होता, तो उसकी संख्या भी संसार के असहायों—अनाथों—ही में होती। कौन उसे अपनाके प्यार करता और उसे मनुष्य बनाने की चेष्टा करता? किन्तु मेरे लिए अवश्य वह बहुत-कुछ होता—आशा का आधार होता, सन्तोष का दीप होता, दुखिया विधवा का एकमात्र सहारा होता, जीवन व्यतीत करने का एक ध्येय, एक साधन होता।

करुणा पति-शोक में जब विह्वल होती, तो उसे ऐसा जान पड़ता कि यदि इस समय मेरा वह पुत्र जीवित होता, तो उसे छाती से दबाकर खूब रोती, और उस रोने से अवश्य बहुत-कुछ शान्ति मिलती। वह कुछ ऐसा भी अनुभव करती थी कि शायद उस रोने में एक प्रकार का सुख भी मिल सकता था, कैसा सुख यह तो वह कह नहीं सकती; पर उस रोने के सुख की कल्पना वह अवश्य करती थी।

आज नवकुमार को इस प्रकार चरण-स्पर्श करते देख करुणा का हृदय मानो कहीं से सम्पूर्ण मातृ-वात्सल्य बटोर लाया। न-जाने एक

बारगी उसके हृदय में यह अभिलाषा कैसे जग गई कि नवकुमार मेरे उसी पुत्र के रूप में परिणत हो जाय! उसकी इच्छा होने लगी, लोकाचार का बन्धन टूट जाय, थोड़ी देर को सब की आँखों पर परदा पड़ जाय, साँसारिक वातावरण उँगली न उठाये, तो वह नवकुमार का सिर हृदय से दबाकर जी भरकर रो ले! परन्तु इस तृष्णा को बुझाने का साहस वह न कर सकी, केवल निश्चल खड़ी आँखों से बड़े-बड़े आँसू टपकाती रही। न-जाने कितनी देर तक देवर-भाभी रोते रहे।

(४)

नवकुमार कहने लगा—मझली भाभी, मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं तुम्हें अपने साथ ले चलूँगा।

मझली भाभी के मुँह पर आज वह पुराना हास्य-रस का पुट न था, बल्कि था उसके स्थान पर गम्भीरता और वात्सल्य-वेदना का स्वच्छ सम्मिश्रण।

स्नेहयुक्त स्वर में उत्तर मिला—भैया, यदि तुम्हारे इस निःस्वार्थ प्रेम के कुछ अंश सदा मुझे प्राप्त होते रहे, तो मेरी जीवन-नौका पार हो जायगी; पर अभी मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगी, बहू को साथ लेकर चलूँगी।

कुछ गम्भीर होकर नवकुमार ने कहा—मैं तो कह चुका भाभी, विवाह नहीं करूँगा।

'फिर वही पागलपन! बस, बहुत हुआ, अब चुपचाप विवाह कर के बहू ले आओ, तो मेरा भी इस घर-रूपी नरक से पिण्ड छूटे। तुम्हारे पीछे मुझ पर क्या-क्या गुज़री है, सब सुना तो चुकी हूँ। मैंने तो समझ लिया था, संसार में अब मेरे लिए शान्ति से ज़िन्दगी बिताने का कोई उपाय ही नहीं है। और लोगों के बदले हुए बर्ताव को देखकर मैं तो

तुम्हारी ओर से भी नाउम्मेद हो चुकी थी। शायद तुम भी सोचते, भाई के पीछे भाभी से सम्बन्ध ही क्या ? पर देखती हूँ, तुम्हारे मन में अभी मेरे लिए वैसी ही ममता है।'—बात पूरी करते-करते करुणा का गला भर आया। वह सर नीचा करके आँचल से आँखें पोंछने लगी।

नवकुमार का भी हृदय द्रवित हो गया। वह बोला—भाभी, इसीलिए तो मैं विवाह नहीं करना चाहता। तुम्हारे प्रति मैंने जो अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया है, सम्भव है, विवाह के बाद मैं उससे डिग जाऊँ। भैया के रहते हुए तुम केवल भाभी ही थीं; किन्तु अब तो तुम मेरी माता के स्थान पर हो।

करुणा का हृदय उमड़ आया। आँखों से झड़ी लग गई। आज अपना पुत्र ही जीवित होता, तो इससे अधिक और क्या ममता प्रकट करता ? वह गद्गद् स्वर में कहने लगी—छोटे बाबू, बहू के साथ निर्वाह करना मेरा काम रहा, चाहे कैसे ही स्वभाव की हो। आज तुम्हारा भतीजा जीवित होता, तो कभी उसकी बहू के साथ भी तो मुझे निभानी पड़ती। बहू आने पर सभी माताओं के पुत्रों पर दूसरे ही का अधिकार हो जाता है; किन्तु कौन अभागी माता ऐसी है, जो बहू का मुख देखना न चाहे। तुमसे केवल मैं इतना ही माँगती हूँ कि सदा अपने भैया का स्मरण करके मेरे मान-अपमान का ध्यान रखना। इस बात को भूल न जाना कि यह मेरे ही परिवार की है।

नवकुमार मातृवत् भाभी के प्रस्ताव को अस्वीकार न कर सका। उसने विवाह की अनुमति एक शर्त के साथ दे दी—भाभी, मेरे विवाह में माता के स्थान पर सारे कार्य तुम्हीं को करने पड़ेंगे, तुम मुँह छिपाकर बैठ न सकोगी।

× × ×

विधवा करुणा अब नवकुमार के छोटे शिशु को छाती से चिपटा कर हँसती भी है, रोती भी है। उसके हृदय की सारी पीड़ाएँ, वैधव्य की सारी ज्वलन्त ज्वालाएँ, उस रोने ही में बनने-बिगड़ने का खेल खेला करती हैं। आज वह जान गई है कि उसका वह नवजात शिशु यदि जीवित रहता, तो उसे छाती से लगाकर रोने में ऐसा ही सुख, ऐसी ही वेदना-मिश्रित शान्ति, और ऐसा ही दुःख-वैराग-मिश्रित विलास, आह्लाद, आनन्द होता। करुणा इसीलिए प्रेम के साथ रोती भी है, हँसती भी है।

क्या इन आँसुओं में वैधव्य की दुःख-कालिमा को धोने की शक्ति बिल्कुल भी नहीं है?

वीणा

वीणा के पिता अपने नगर के प्रख्यात वीणा-मास्टर थे। वीणा बजाने का शौक बाल्यकाल से उनके हृदय में जिस अतुल उल्लास के साथ उद्दीप्त हुआ, अन्त समय तक वह वैसा ही नवीनोल्लासमय बना रहा। परिवर्तनशील संसार ने अपने नियमानुसार उन्हें भी अपने परिवर्तन-चक्र में घुमाया, सुख की घड़ियाँ भी दिखाईं और दुःख-पीड़ा की असह्य यातनाओं का भी कठिन अनुभव कराया; किन्तु उनकी वीणा की गति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ।

उन्होंने अपनी पुत्री का नाम भी वीणा ही रख दिया और वीणा को पूर्ण कलाकार बना देना ही उनके जीवन का उद्देश्य हो गया। वे कहा करते थे—बेटी, अन्त समय यदि तेरे पिता की उँगलियों में

शक्ति न रहे, तो तू उस समय वीणा की एक मनोहारिणी झंकार सुना देना। उसी झंकार के सहारे मैं किसी अज्ञात झंकार में लीन हो जाऊँगा। पिता की मृत्यु के समय वीणा ने उनकी आज्ञा का पालन भी कर दिया था। लोगों ने उसके इस अनोखे कार्य पर बाद में हँसी भी उड़ाई थी कि मास्टर तो सनकी था ही, जान पड़ता है, लड़की भी वैसी ही है।

(२)

पिता की भाँति वीणा में भी कुछ सनक थी अवश्य। पिता की मृत्यु के बाद मा-बेटी दोनो अनाथ हो गईं! पेट पालने के लिए मज़दूरी के सिवा उनके लिए अन्य कोई साधन न था—कोई मार्ग, कोई उपाय, कोई हितैषी दिखाई न देता था।

पिता ने जीवन-भर सर्वाङ्गीण कलाकार बनने की चेष्टा की, उसके ज़रिये धनोपार्जन नहीं किया। सूखी दाल-रोटी में ही वे अपनी वीणा के तार सम्हालते हुए सन्तुष्ट थे और मरते समय वही एकमात्र सम्पत्ति-रूप वीणा स्त्री और पुत्री के लिए छोड़ गये थे।

इस दशा में अनाथ स्त्रियों के लिए रोना और सोना दो ही उपाय शेष थे; किन्तु वीणा के पास अपने दुःख को शान्त करने का प्रधान साधन वीणा भी थी। वह पितृशोक की वेदना, असहाय स्त्री-जाति की निर्बलता, पेटाग्नि की ज्वलन्त ज्वाला, सब-कुछ वीणा की ही झंकार में मिलाकर इन अनेक भारों से हल्की हो जाना चाहती थी।

वह दिन भर मा का अनुकरण करती हुई कठिन परिश्रम करती। मा के वेग से बहते हुए आँसू उसकी आँखों में भी दरिया बहा देते; किन्तु चन्द्रदेव के आगमन पर वह खुली छत पर बैठकर वीणा से वह सुखद झंकार उत्पन्न करती कि स्वयं ही अपने संगीत पर मुग्ध हो

जाती—उस झंकार में वह बिल्कुल तन्मय हो जाती। फिर उसे दुःख-सुख, कष्ट-पीड़ा कोई भी जाग्रत न कर पाता। उसी तल्लीनता में कब वह निद्रा की गोद में निमग्न हो जाती, उसे कुछ जान न पड़ता। उषा की लालिमा उसके मुख पर नृत्य करके उसे जगाती, तो वह लापरवाही से वीणा यथास्थान रखकर दिन के कार्यक्रम में लग जाती।

(३)

ऐसे ही कार्यक्रमानुसार वीणा का बहुत-सा समय व्यतीत हो गया। शोक की गति भी अब वैसी तीव्र नहीं रही। दिन-भर के कठिनप रिश्रम से ग़रीबी का भोजन-वस्त्र मिल जाता और धीरे-धीरे वह उसी अवस्था में सन्तुष्ट भी हो गई। किन्तु मा को वीणा के विवाह की चिन्ता किसी प्रकार शान्ति की रेखा ढूँढ़ने का अवकाश न देती।

मा की यह चिन्ता वीणा को कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ती थी। व्यर्थ विपत्ति में एक और उत्पात खड़ा करना मा की प्रवृत्ति है। क्यों न पिताजी मा को भी वीणा की अतुलनीय मिठास का दिग्दर्शन करा गये, बेचारी पीड़ा में कुछ सुख का आभास तो पा सकती। वीणा-जैसी १६-१७ वर्ष की नवयौवना के लिए विवाह आवश्यक ही है, यह बात वीणा की समझ से परे थी। मा समझती थी कि वीणा ज़रूरत से कुछ अधिक अल्हड़ है, और इसमें दोष उसके पिता का है। जान-बूझकर उन्होंने वीणा के अल्हड़पन को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने ही वीणा की उँगलियों को तारों पर फुदकना सिखाया और संगीत-लहरी पर वीणा के तितलीरूपी हृदय को नाचना सिखाया। और इसके सिवा स्त्रीत्व का कोई भाव उसके समीप आ ही नहीं पाया है। क्या हुआ, संकट पड़ने पर मेरे साथ कुछ सिलाई आदि कर लेती है; किन्तु उसका मन तो दिन-रात वीणा में ही उलझा रहता है! ससुराल जाकर वह क्या करेगी—गृहस्थी का काम कैसे करेगी?

ज़मींदार घराने से वीणा के विवाह का प्रस्ताव हुआ। प्रथम तो वीणा की मा सहमत नहीं हुई। इतने बड़े आदमी होकर मुझ ग़रीब की कन्या को किसलिए लेना चाहते हैं ? लड़के में कुछ ऐब तो नहीं है ; किन्तु स्वयं लड़के की मा ने घर में आकर वीणा की मा का शंका-समाधान कर दिया—वीणा के लिए मेरे शगुन-जैसा वर तुम्हें त्रिलोक में दूसरा न मिलेगा। सभी उसके गुणों पर मुग्ध हैं। संसार में उसके लिए लड़कियों की कमी नहीं है ; किन्तु वह तुम्हारी वीणा पर मुग्ध हो गया है। कई बार उसने छत पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में वीणा में तल्लीन वीणा को निशीथ-गान गाते देखा है। तुम्हारी वीणा का रूप भी तो अपार है। लड़के का आकर्षित होना अनुचित नहीं है। हम लोग उसके मन की चाह पूरी करना चाहते हैं। बहन हमारे एक ही लड़का है। और लोगों ने भी शगुन की मा की बातों का समर्थन किया तो वीणा की मा विवाह के लिए सहर्ष सहमत हो गई उसने मन-ही-मन ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद दिया।

(४)

विवाह की तैयारियाँ वीणा को उसकी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करती प्रतीत हुईं। मा की चिन्ता के कारण उसने प्रकट में तो विवाह का विरोध नहीं किया ; किन्तु भीतर-ही-भीतर एक प्रकार की वेदना उसे काटने-सी लगी। विवाह के दिन तक वह एक मुरझाई हुई कली के समान हो गई और ससुराल जाकर उसकी वह छिपी वेदना आँसुओं द्वारा फूट पड़ी। उमड़ते आँसुओं के वेग को कभी हृदय में ही समेटना, कभी आँखों में ही पी जाने की चेष्टा करना और कभी एकान्त में पूर्ण व्यथा से आँसुओं का दरिया बहा देना—यही अब उसका कार्य-क्रम हो गया।

रानियों-जैसे आराम के सामान, अद्‌भुत सिंगार की वस्तुएँ, जवाहरात के आभूषण, चमकीली ज़री की साड़ियाँ, सास-ससुर का लाड़-प्यार तथा अपने रूपवान पति का दुर्लभ पति-प्रेम कुछ भी उसके लिए आकर्षक नहीं था—जाने किस वस्तु का उसका हृदय बना था ? उसमें मानवता का, स्त्रीत्व का, इतना अभाव क्यों था ? संसार के अतुलनीय वैभव पर उसे मोह न था। जिसकी साधना संसार जीवन-पर्यन्त करता है, वीणा के सम्मुख उसका कुछ महत्त्व ही न था !

वीणा के अधरों पर हँसी की किरण देखने की चेष्टा में विफल शगुन तारों-भरी रात में खुली छत पर अपलक दृष्टि से उस अलौकिक सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए सोचता—यह रक्त-मांस का शरीर है या श्वेत संगमर्मर की प्रतिमा ? किसी विपरीत ही धातु का इसका हृदय बना है !

धीरे-धीरे शगुन कुछ उत्तेजित-सा हो जाता और वीणा का हाथ दाबकर पूछता—वीणा, क्या मेरे ऊपर किसी मोहिनी मन्त्र का प्रयोग कर रही हो ? मौन क्यों हो ? नाराज़ क्यों हो ? क्या मुझ से विवाह नहीं करना चाहती थीं, या अब सन्तुष्ट नहीं हो ? कुछ तो कहो—तुम कैसे जानोगी वीणा, मेरा हृदय व्यथा से भरता जा रहा है। मेरा क्या अपराध है ? मैं तुम पर मुग्ध हूँ, आसक्त हूँ, तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ—क्या यही मेरा अपराध है ?

वीणा सोचती—मेरे मन की बात कोई इनसे कह दे, मैं नाराज़ नहीं हूँ, तुम्हारा कुछ अपराध भी नहीं है। किन्तु हाँ, मैं सुखी नहीं हूँ। देखो, मेरा सारा आनन्द, सारा सुख नष्ट हो गया है। मैं स्वयं ही खोई-सी जा रही हूँ। बिल्कुल ठीक तो मैं नहीं जानती—मुझे कहना

नहीं आता, मुँह से कैसे कहा जाय, मैं नहीं जानती, फिर तुम्हें क्या बताऊँ ? और तुम्हारी यह बातें मुझे बहुत ही लज्जित करती हैं। इसी कारण मुझे और भी दुःख होता है। हर समय लज्जा में डूबी रहती हूँ, इसी लिए तुम्हारे आग्रह करने पर भी वीणा नहीं बजा पाती, चेष्टा करने पर भी ध्वनि स्फुटित नहीं होती। गाने-बजाने में कुछ लज्जा, कुछ ग्लानि-सी प्रतीत होती है। जाने कैसा लगता है। मुझे जाने क्या हो गया है। मेरी सारी शक्ति, साहस, चेतना क्या हुई ? बोला ही नहीं जाता—यह सब इनसे कैसे कहूँ ? अच्छा, इतना तो कह ही दूँ कि मैं नाराज़ नहीं हूँ।

आज साहस बटोरकर उसने निश्चय किया कि इतना तो कहूँगी ही कि मैं नाराज़ नहीं हूँ। कठिनता से उसने आँखें ऊपर उठाईं। शगुन एकटक उसकी ओर देख रहा था। लज्जा के मारे वीणा का मुँह लाल हो आया। फिर तो वह आँखें धरती पर ऐसी गड़ीं कि शगुन किसी प्रकार उठा ही न सका।

हताश होकर शगुन ने कहा—मा, वीणा को उसकी मा के पास भेज दो, वरना बीमार हो जायगी।

'विचित्र स्वभाव की लड़की है ! ससुराल जाने पर कुछ दिनों तक माता-पिता की सुध सभी को आती है ; किन्तु इसकी-सी दशा किसी की नहीं होती ! तुम से तो कुछ कहती ही होगी ?'

शगुन ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और भारी गले से केवल इतना ही कहा—उसे भेज दो।

पुत्र की आन्तरिक व्यथा मा से छिपी नहीं रही। उसे वीणा पर क्रोध होने लगा—अच्छी बहू मिली ! लड़के का दिल ही तोड़े देती है। यह तो सोचती नहीं कि ऐसा पति पाकर उसके भाग जाग गये,

ऊपर से अभिमान करती है! किन्तु अपने भाव मन ही में छिपाकर वह सान्त्वना के शब्दों में बोली—बेटा, वीणा और लड़कियों की भाँति चपल नहीं है, लजाती बहुत है, कुछ दिनों में हम लोगों से हिल-मिल जायगी। हाँ, अभी तो उसे भेजे ही देती हूँ—उसकी मा बुलावे भी बहुत भेज चुकी है।

(५)

शगुन के कोई अपना भाई-बहन न था। उसकी एक स्नेहमयी भाभी थी। इस देवर-भाभी के सम्बन्ध में नाते-रिश्ते का ताल्लुक़ न था। विपिन शगुन का घनिष्ठ मित्र था—सगे बड़े भाई के समान, और उसकी स्त्री सुमुखी उसकी भाभी थी। शगुन के विवाह में भाभी सम्मिलित नहीं हो सकी। विवाह के ऐन मौक़े पर उसके पिता की बीमारी का तार आया और भाभी को वहाँ जाना पड़ा। शगुन ने विवाह की तिथि बदलने की यथाशक्ति चेष्टा की; किन्तु सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं, नाते-रिश्तेदार घर में आ चुके थे, तिथि बदलना सम्भव न हो सका। वीणा से निराश होकर शगुन को ऐसा लगने लगा, मानो यह घटना भाभी के अभाव के ही कारण हुई है और अब भाभी के ही पास जाने में उसका कल्याण है। इसके अतिरिक्त सारे संसार में उसके लिए शान्ति का कोई दूसरा साधन भी तो नहीं है। सम्भव है, भाभी अपनी वाक्पटुता का चमत्कार वीणा पर छोड़ सकें, उसके कानों में अपनी कोकिल-जैसी वाणी की मधुर कूक कूककर वीणा को मेरे हृदय का दिग्दर्शन करा सके; किन्तु नहीं, वीणा पर इसका ज़रा भी प्रभाव न होगा।

वीणा मुझे नहीं चाहती; पर मैं तो उसे चाहता हूँ, मेरा क्या होगा? इस जीवन में उसे मैं कैसे भूल सकूँगा? भूलना ही होगा

इस आग को। हृदय को तोड़नेवाली इस वेदना को मैं अधिक दिन सहन नहीं कर सकूँगा। किन्तु उसे भूलने का मन्त्र कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा ?

ऐसी ही चिन्ताओं में पड़कर शगुन बीमार रहने लगा। बीमारी का समाचार पाकर विपिन उसकी भाभी को लेकर आ गया। आज शगुन ने भाभी के सामने अपना सारा हृदय खोलकर रख दिया। भाभी की आँखों में आँसू आ गये।

शगुन को ऐसा जान पड़ा कि भाभी ने अपने हृदय का सारा स्नेह मुझ पर निछावर कर दिया। कितनी ही रातों बाद आज भाभी के बीच उसे कुछ देर मीठी नींद आई। भाभी गुलाब-जल में कपड़ा भिगोकर उसके सिर पर रखती रही। सर की पीड़ा के साथ ही कुछ हृदय की पीड़ा भी कम हुई। पर रह-रहकर एक टीस-सी उठती रही—वीणा का हृदय मेरी भाभी के समान क्यों नहीं है और क्या कभी ऐसा नहीं हो सकेगा ?

(६)

भाभी ने वीणा को बुलाने का प्रस्ताव किया ; पर शगुन ने उसका विरोध किया—जब यहाँ उसे क्लेश होता है, तो बुलाने की आवश्यकता ही क्या है ?

'आवश्यकता क्यों नहीं है ? वह इस घर की बहू जो है। किसी प्रकार भी उसे यहीं अपने मन को प्रसन्न रखना होगा।'

'नहीं, जब उसकी आने की इच्छा होगी, आयेगी, ज़बरदस्ती—'

'तो फिर मैं तुम्हारी बहू को कैसे देखूँ ?'

'पास ही तो घर है, जाकर देख लो।'

'यह भी देखने का कोई तरीक़ा है ! यहीं बुलाऊँगी—मैंने गाड़ी भेज दी है।'

'बुलाओ ; लेकिन जब तक वह यहाँ रहेगी, मुझे प्रवासी बनना पड़ेगा। भाभी, तुम नहीं जानती, वह यहाँ नहीं रह सकेगी। वह किसी—'

बात करते-करते शगुन सावधान हो गया और दूसरे कमरे में कोच पर जाकर गिर पड़ा।

वीणा ने सुना, शगुन बीमार है और उसकी एक भाभी आई है। सारे घर पर भाभी का ही अधिकार है और शगुन पर भी। वीणा को उसने बुलाया था ; पर जब वह जाने को तैयार हुई, तो दूसरे नौकर ने आकर कहा—बहूजी स्वयं ही आयँगी।—वीणा गाड़ी पर बैठते-बैठते रुक गई।

इस बार वीणा को ससुराल न जाने से प्रसन्नता नहीं हुई, बल्कि उसके आत्म-सम्मान पर धक्का लगा—यह भाभी कौन है ? इस प्रकार अपमानित करने का अधिकार उसे किसने दिया ? क्या शगुन को यह बात मालूम है और उन्हें अपनी भाभी की यह बात अनुचित नहीं जान पड़ी ?

मुझे अपमानित करने ही के लिए वह बुलावे पर बुलावा भेजती है—मैं बहू को देखने के लिए बहुत ही अधीर हूँ। और जब मैं जाने को तैयार हो गई तो कहला भेजती है—मत आओ, मैं खुद ही आऊँगी। और आज सप्ताह व्यतीत होने को आया—आने का अवकाश ही नहीं ! केवल मुझे लांछित करने के लिए ही इस रहस्य की रचना हुई थी। क्या इस रहस्य में वे भी शामिल हैं ? अवश्य होंगे। सुनती हूँ, भाभी से उनका बहुत प्रेम है—उन्हीं पर क्यों, सारे

घर पर भाभी का अधिकार है। मैं कुछ भी नहीं, मेरा उस घर पर तनिक भी अधिकार नहीं !

इस घटना ने एकबारगी वीणा के हृदय में जाने कैसे सम्पूर्ण स्त्रीत्व जाग्रत कर दिया। सोचते-सोचते उसके आँसू आ गये। वह कहने लगी—अपराध उनका नहीं, मेरा ही है। सारी परिस्थिति उसके सम्मुख सजीव अवस्था में घूमने लगी।

वह पति के सम्मुख अपराधिनी है—बहुत बड़ी अपराधिनी है। जो बात पहले वह तनिक भी नहीं समझ सकी थी, आज अनायास ही सब-कुछ उसकी समझ में आ गया, और वह विकल हो उठी। व्यथा से उसका हृदय फटने लगा। मन चाहा, पति के पैरों पर गिरकर इन आँसुओं-द्वारा सब-कुछ उसे समझा दे, उनसे क्षमा माँग ले।

अब मा का घर उसे काटने लगा—चारों ओर अभाव-ही-अभाव दीखने लगा। कई बार वह इस प्रकार विकल हो उठी कि मन में आया कि मा से कह दे—मुझे मेरे घर भेज दो; लेकिन साहस नहीं हुआ। मा का भी तो अपमान है।

वीणा क्या करे? उसे दिन-पर-दिन ऐसा प्रतीत होने लगा कि पति उससे बहुत दूर हुआ जा रहा है, और वह भाभी कैसी है...

उसने साहस करके धड़कते दिल से कहा—मा, एक बार पुछवाओ ना। आख़िर आई क्यों नहीं ?

मा स्वय भी बहुत चिन्तित थी। वीणा के परिवर्तन से जितना ही उसे सन्तोष था, उतनी ही वह ससुरालवालों की उदासीनता से दुखी थी। वीणा की बात उसे उचित जान पड़ी। उसने उसी दिन ख़बर मँगाई। सास ने कहला भेजा कि शगुन बीमार है, इसी कारण भाभी बहू को देखने नहीं आ सकी। किन्तु वीणा के बुलाने का कोई ज़िक्र

नहीं किया। नौकर ने अपनी ओर से यह भी बतलाया—बहूजी शगुन बाबू की तीमारदारी में लगी रहती हैं। उनकी तबीयत अच्छी नहीं है।

वीणा ने सब-कुछ सुना। मुँह छिपाकर वह छत पर चली गई और फूट-फूटकर रोने लगी—उनकी बीमारी में किसी को भी मेरी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती! भाभी की तीमारदारी यथेष्ट है! मैंने माना कि अपराध मेरा है। उनकी प्रेमपूर्ण बातों से मुझे लज्जा होती थी, एक प्रकार का भय लगता था; किन्तु उन्होंने मुझे इस प्रकार का दण्ड क्यों दिया? मा के घर क्यों भेज दिया? मेरी इच्छा के विरुद्ध वहीं रहने की मुझे आज्ञा क्यों नहीं दी?

अब मेरे हृदय में स्वतन्त्रता की क़ीमत वैसी नहीं है, बल्कि वह किसी की अधीनता चाहता है—केवल अपना ही अधिकार नहीं, किसी और का अधिकार भी चाहता है। कितनी चेष्टा करती हूँ—वीणा भी तो इस वेदना को दूर करने में असमर्थ है। क्षण-भर को सान्त्वना भी तो नहीं दे पाती है। देखती हूँ, उसे बजाने में अब सुख ही नहीं रहा और उस असफलता से अधिक रञ्ज मुझे उनकी नाराज़गी का है।

इसी उधेड़-बुन में उसने बहुत-सा समय व्यतीत कर दिया। मा भी अपना मुँह लपेटे नीचे लेटी-लेटी सो गई। दोनों का ही मन मलीन था—एक दूसरे की ख़बर कौन लेता? आज की सन्ध्या सूनी ही समाप्त हो गई—घर में चूल्हा भी नहीं जला।

(७)

वीणा पीड़ा से छटपटा उठी। ख़ामोश पड़े रहना उसे असह्य हो गया तो उन्मादिनी-जैसी अवस्था लेकर वह उठ खड़ी हुई। खिड़की खोलकर शगुन के घर की ओर उसने दृष्टि डाली—यह फुलवारी है, और इसी फुलवारी के चबूतरे पर शगुन लेटा होगा। गर्मी बहुत है, भाभी पंखा करती होगी।

इस काल्पनिक चित्र ने वीणा के हृदय में हज़ार बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने-जैसी पीड़ा उत्पन्न कर दी। वह बहुत ही विकल हो उठी। उसे उचित-अनुचित का ज्ञान ही न रहा। वे इतने समीप हैं, और मैं देखने को भी तरसती हूँ। वह मुझसे कितने ही नाराज़ क्यों न हों, जब मैं जाकर पैरों पर गिरकर क्षमा माँगूँगी, तो प्रसन्न हो जायँगे।

उसने नीचे झाँककर देखा मा सो रही है। फिर धीरे से घर के पीछे की ओर जो ज़ीना था, उसका दरवाज़ा खोला और साँस रोककर सीढ़ियाँ पार कर गई; किन्तु आगे क़दम रखने का साहस नहीं हुआ। ससुराल के घर में चाँदनी छिटकी थी। सीढ़ी पर से उसे साफ़ दिखलाई दिया—दुग्ध-जैसी श्वेत शय्या पर कोई लेटा है, शायद शगुन ही होगा, और पलंग के पास ही आरामकुर्सी पर जो लेटी है, उसकी साड़ी की काली पाड़ साफ़ चमक रही है। वह अधिक खड़ी न रह सकी। हृदय की व्यथा आँखों के राह उफनने लगी। शरीर काँपने लगा। जी बैठने-सा लगा। बेसुध-सी आकर वह गिर पड़ी और रोने लगी।

इस ज्वार-भाटे का वेग कम होने पर उसने सोचा, क्या मेरी इन उँगलियों में अब इतना भी दम नहीं है, जो अपनी वीणा के द्वारा इस पीड़ा का—विरह-वेदना का उन्हें अनुमान करा सकूँ? क्यों नहीं है, मेरी एकमात्र सहायिका वीणा मेरे पास है, आज सारी शक्ति बटोरकर प्रयास का अन्त कर दूँगी—सम्पूर्ण कला का कोष खाली कर दूँगी। उँगलियो! धोखा न देना। आज तुम्हारी परीक्षा है मेरी वीणा! अनजान में ही इतने दिनों तक जिस लिए तेरी साधना की है, आज वह घड़ी आ गई है। देवता का वरदान या शाप तेरी सफलता पर ही निर्भर है। उसने वीणा से कारुणिक झंकार उत्पन्न करने में अपनी सारी शक्ति, सारी कला, हृदय की सारी वेदना और सारी पीड़ा ख़र्च कर दी।

वीणा की झंकार सुनकर शगुन बेचैन हो गया—अपने पर क़ाबू रखना उसके लिए कठिन हो गया। इस अर्द्धरात्रि के समय वीणा इस विरह-राग से किस के हृदय को रिझाने की चेष्टा कर रही है? आज एक बार सब-कुछ शगुन अपनी आँखों से देखेगा। ज़ीने का द्वार अब भी खुला है। तनिक देर पहले सीढ़ियों पर उसे किसी व्यक्ति की छाया प्रतीत हुई थी। शगुन अपने को रोक न सका। घर के सब लोग मीठी निद्रा में निमग्न थे। बीच में कोई बाधा नहीं थी; किन्तु फिर भी पैर काँप रहे थे, दिल धड़क रहा था। इसी अवस्था में उसने वीणा के घर की सीढ़ियाँ पार कीं। इतनी रात गये भी द्वार खुला है, इस विचार से उसके काल्पनिक रहस्य की पुष्टि हुई।

किन्तु छत पर पहुँचकर उसने देखा, आँगन में श्वेत चाँदनी फैली है और उसी चाँदनी में भीगी हुई वीणा आँखें बन्द किये अपने राग में तन्मय है। शगुन सब कुछ भूलकर अपलक दृष्टि से क्षण-भर देवकन्या-जैसी वीणा की अपार रूपराशि को निहारता रहा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो इस रागनी के साथ वीणा का कोमल हृदय टूटा-सा जा रहा है। इस संगीत के साथ उसके प्राण भी बहे जाते हैं। उसके शरीर की सम्पूर्ण शक्ति इस मार्मिक राग में समाप्त हुई जा रही है।

छटपटाकर शगुन ने वीणा की वह साधना भंग कर दी। वीणा के कन्धे का स्पर्श करके बोला—वीणा!

चौंककर वीणा ने आँखें खोल दीं।

साधना सफल हो गई। वरदान के लिए देवता सामने ही उपस्थित हैं। उसने चाहा, चरणों पर माथा टेककर कहूँ—क्षमा।

किन्तु क्षमा-प्रार्थना कुछ हो नहीं सकी—पूर्व ही शगुन के आलिंगन ने प्रार्थना की वेला खण्डित कर दी।

कर्तव्य

उषा का पति उसे बहुत ही प्यार करता है। सारे मोहल्ले की स्त्रियों में दिन-रात इसी बात की चर्चा रहती है। उषा भी अपने को अन्य स्त्रियों से भाग्यशीला मानती है। वह देखती है—मेरे पति के समान अन्य किसी स्त्री के पति अपनी पत्नी का इतना आदर-सम्मान और प्यार नहीं करते। मेरा पति तो किसी बात में भी मेरी उपेक्षा नहीं करता। यथाशक्ति मेरी फरमाइशों को पूरी करने में वह कभी भी लापरवाही नहीं करता।

वह चाहता है मेरी उषा सदा ही सजी-बजी दिखलाई दे। इस कारण वह उषा के लिए अनेक प्रकार के शृंगार की वस्तुएँ लाया करता है और बहुत आग्रह से उषा को सजाता है, अपने साथ सैर और सिनेमा को भी ले जाता है।

उषा की सहेलियाँ कहती हैं—अरे तूने उस पर क्या जादू कर रखा है, मुझे भी बता दे न ?

उषा का हृदय मीठे अभिमान से भर जाता है। हँसकर वह कहती तो यही है—मेरे लिए क्या कोई अनोखी बात है ? तुम्हारे पति किस बात में तुम्हारा लाड़ नहीं करते ?—किन्तु मन में अवश्य सोचती है कि सहेलियों की बातों में सच्चाई है। जो अत्यधिक पति-प्रेम उषा को प्राप्त है वह किसी भी सहेली को मुअस्सर नहीं। उसका पति तो असीम प्रेम के कारण उसे कभी पिता के घर भी जाने नहीं देता है। एक दिन का बिछोह भी उसे असह्य है।

(२)

'हरिहरक्षेत्र' का मेला, बिहार-प्रांत का मशहूर मेला है। मवेशियों का इससे बड़ा मेला दूसरा नहीं होता। इस कारण दूर-दूर के लोग इस मेले में सम्मिलित होते हैं।

आज मेले का तीसरा दिन था, गङ्गा के किनारे भारी भीड़ थी। चारो ओर मेला भरा था। जल के अन्दर किश्तियों की बाढ़-सी आ रही थी। फिर भी बैठनेवालों को किश्ती खाली न मिलती थी और संध्या का समय था इसलिए लोग बोटिंग का आनन्द लेने को उतावले हो रहे थे।

उषा भी अपने पति के साथ एक बड़ी नाव पर बैठी। मल्लाह लोग नहीं-नहीं करते ही रहे ; किंतु भीड़ में कौन किसी की सुनता है। जब तक नाव खुले-खुले, उस पर बहुत भीड़ हो गई।

बोझे के कारण मल्लाहों का साहस टूट गया। किश्ती बीच-धारा में आकर डगमगाती हुई भँवर में फँस गई। तुरन्त ही मल्लाहों ने

नौका डूबने का ऐलान कर दिया और वह सब जल में कूदकर प्राण बचाने की चेष्टा करने लगे।

एक-एक करके सभी मनुष्य नाव से कूद पड़े। जो तैरने की कला के विशेषज्ञ नहीं थे, वे भी यह सोचकर कि मरना तो है ही फिर साहस से क्यों न मरा जाय, जीवन-रक्षा के लिए प्रयास करने लगे।

नाव पर उषा और उसके पति दो ही प्राणी शेष रह गये थे। पति महाशय धोती का फेंट कसकर कूदने की चेष्टा में थे और उषा भयभीत हिरनी की भाँति एक टक पति का मुख निहार रही थी। उसका हृदय जोर-जोर से धड़क रहा था और उसी प्रकार नौका भी हिलोरें मारकर अपने जल-मग्न होने का संकेत कर रही थी। वायु की गति बड़ी तीव्र हो गई, उषा ने भय से आँखें बन्द कर लीं। उसे ऐसा जान पड़ा मानो प्रलय हुई जा रही है और यह अंतिम समय है।

अब तक वह अपने पति की मंगल-कामना के हेतु मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी; परन्तु अब सब भूलकर उसकी इच्छा हुई—पति की छाती से कसकर लिपट जाऊँ। अन्तिम समय भी उसे हृदय से विलग होने की इच्छा नहीं होती थी।

उषा ने अपने दोनो हाथ आगे बढ़ाकर पति को पकड़ने की चेष्टा की; किंतु व्यर्थ! पति महाशय तो उषा पर बिना दृष्टि डाले ही, नाव से बाहर हो चुके थे और प्राण-रक्षा की चेष्टा में व्यस्त थे।

उषा आँखें बन्द करके नाव में गिर पड़ी और मृत्यु का आह्वान करने लगी।

दूर खड़े हुए हज़ारों मनुष्यों की आँखें इस दृश्य को देखने में

तल्लीन थीं। उनके हृदय इस डूबनेवाली की प्राण-रक्षा के लिए एक स्वर से शुभ कामना कर रहे थे।

(३)

ईश्वर भी एक साथ इतने मनुष्यों की प्रार्थना की अवहेलना न कर सका। हलकी हो जाने के कारण नाव डूबी नहीं; बल्कि किनारे की ओर आ गई। कुछ साहसी और सहृदय मनुष्य प्रथम ही उषा को बचाने के लिए जल में कूद चुके थे। वे लोग भय से बेहोश उषा को तट पर ले आये।

उसके प्रति कितने ही हृदयों में सहानुभूति का स्रोत उमड़ चुका था। उपचार के लिए जन-समुदाय की भीड़ लग गई। सभी ईश्वर की अनुकम्पा का गुणगान कर रहे थे और उसके पति की ओर देख-कर मुस्करा रहे थे। दो-चार मनुष्यों ने तो कह ही डाला—तुम तो अच्छे तैराक जान पड़ते हो, साथ ही स्त्री को बचाने की चेष्टा करना भी तो तुम्हारा कर्तव्य था।

बेचारी उषा टुकुर-टुकुर पति का मुख निहार रही थी। इतनी भीड़ में वह क्या कहती? एकान्त होता तो भले ही पति को उपालम्भ दे लेती।

उस समय तो उसे ऐसा जान पड़ रहा था मानो वह स्वयं ही अपनी दृष्टि में गिर गई हो। अब उसका कुछ मूल्य ही नहीं रह गया है। व्यर्थ ही भगवान् ने उसे बचा लिया, मर जाती तो ठीक था।

किंतु अब तो बच ही गई, ईश्वर इतनी दया करे कि यह घटना किसी परिचित को मालूम न हो। उसने आँखें उठाकर लज्जायुक्त दृष्टि से ऊपर देखने का प्रयास किया—यहाँ कोई परिचित व्यक्ति तो

नहीं है। एक-दो नहीं, कितने ही खड़े थे, उसने आँखें नीची कर लीं।

क्षण-भर में भविष्य के कितने ही चित्र आँखों के सामने घूम गये, उसके प्रेम पर ईर्ष्या करनेवाले अब प्रसन्न होंगे, सहेलियाँ दूसरे ही प्रकार की चर्चा करेंगी—क्या यह उषा का वही पति है, जो प्रेम के कारण उसे पिता के घर भी नहीं जाने देता था? कहता था—उषा, तुम्हारे बिना इस घर में कैसे रहूँगा?

उसका यह प्रेम कैसा था? उषा मर भी जाती तो क्या पति को कुछ अधिक शोक होता? घर में अकेला रहना सम्भव है एक दिन भी असहनीय होता, किंतु उसका भी तो उपाय था—कुछ लोक-लाज के निर्वाहोपरान्त दूसरा विवाह हो जाता। वह मूर्खा भी समझती—मेरा पति मुझे बहुत प्रेम करता है। किंतु यह क्या? व्यर्थ में उषा ऐसी बातें क्यों सोच रही है? भगवान् ने उस पर कम कृपा नहीं की जो उसका पति भीषण दुर्घटना से बच गया। उसे ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद देना चाहिये और खुशी मनाना चाहिये। पति के हाथ से गंगा पर कुछ दान-पुण्य भी करवाना चाहिये। ईश्वर ने बहुत बड़ी अलफ काट दी।

व्यर्थ किसी पर दोषारोपण करना उचित नहीं है, संसार में कौन ऐसा है, जिसके प्रेम में स्वार्थ की छाया नहीं होती? किंतु कर्तव्य? हाँ, मानव-समाज कर्तव्य ही की शृङ्खला में बँधा है। किंतु इससे क्या, अपनी प्राण-रक्षा करना भी तो कर्तव्य है?

स्त्री, पुरुष, पुत्र, पिता, यह सब तो मोह-जाल है। कोई किसी का नहीं है। मोह में फँसकर अपने प्राण बचाने की सामर्थ्य होते हुए भी चेष्टा न करना—आत्महत्या करना भी तो पाप है।

कुछ समय पूर्व भारतीय महिलाएँ पति के साथ सती हो जाना ही अपना कर्तव्य मानती थीं, यही उनका आदर्श था ; किंतु क्या वह आत्महत्या भी पाप थी ?

इस प्रकार की उधेड़बुन में पड़कर उषा घबरा उठी। यह गहन विषय उसके हल करने का नहीं है। गीताकार ही जाने।

स्त्री के लिए इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है—भगवान् ने उसके पति की एक आई अलफ काट दी। स्त्री को तो इतने ही में संतुष्ट होना चाहिये।

उसने अपने हृदय को दृढ़ किया और आँखों में प्रसन्नता भर-कर उठ खड़ी हुई। पति की लज्जा दूर करने की चेष्टा में बोली—चलो, अब घर चलें ; परमात्मा ने दया करके हम लोगों के प्राण बचा लिये। आप चिंता क्यों करते हैं ?

फिर भी उसका हृदय हल्का नहीं हुआ, कुछ काँटा-सा खटकता ही रहा। सहेलियाँ प्रेम का विषय लेकर जब यह चर्चा छेड़ेंगी तो वह क्या उत्तर देगी ?

(४)

मृत्यु-शय्या पर पड़े अपने पति के सिरहाने बैठी उषा गरम-गरम आँसू बहा रही थी। आज छः महीने से उसके पति को ऐसे ज्वर ने घेरा है कि दिन-पर-दिन उसकी दशा बिगड़ती ही जाती है। एक दिन को भी इस पापी ज्वर ने छोड़ा नहीं और न छूटने की आशा ही है। डॉक्टर कहते हैं टी. वी. है।

टी. वी. क्या ऐसा असाध्य रोग है जिससे बचने का ससार में कोई उपाय ही नहीं है ? फिर क्या होगा ? ईश्वर, क्या होनेवाला है ?

इससे आगे वह सोच न सकी। आँखें और हृदय दोनो ही नदी के प्रवाह की भाँति उमड़ आये। उसी समय वहाँ सान्त्वना के हेतु समीप ही दूसरे पलंग पर सोता हुआ बच्चा जाग पड़ा और रोकर उसने पुकारा—अम्मा !

उषा ने आँखें पोंछ लीं और कुछ सेकिंड को आँखें बन्दकर मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना की—मुझ अकेली को रोने के लिए बचा न रखना।

बच्चे को गोद में उठाते ही उसे ध्यान आया कि हम दोनो के पीछे इसका क्या होगा ? फिर संसार में इस अबोध बालक का कौन है ? पति के बाद भी इसके हेतु अपने प्राण रखने की चेष्टा करना क्या मेरा धर्म है ? किंतु इस कल्पना ने फिर उसके अन्दर तूफान मचा दिया। कण्ठ रुकने-सा लगा, आँखें छल-छला आईं।

उसका सारा शरीर थर-थर काँपने लगा। यह क्या ! वह ही नहीं, यह तो सारा घर ही काँप रहा है। पति की चारपाई भी तो हिल रही है।

वह बच्चे को लिये हुए चारपाई के समीप भाग आई। उसी समय चारो ओर कोलाहल मच गया—भूकम्प ! भूकम्प !!

उषा के रोगी पति ने धीमी आवाज़ से कहा—उषा ! मुझमें तो उठने की शक्ति नहीं है, मेरी चिंता छोड़ो और बच्चे को लेकर भाग जाओ।

उषा ने भी देखा कि वायु के झकोरों के साथ मिट्टी-रेत घर में भरी आ रही है। भयंकर धड़-धड़ की आवाज़ के साथ घर गिरा ही चाहता है ; किन्तु उसके पास पति को बचाने का कोई उपाय नहीं है। इस समय वह घर में अकेली है और गोद में बच्चा है।

इस विचार ही में कमरे की एक दीवार गिर पड़ी। उषा का पति चिल्ला पड़ा—उषा बिदा ! तुम भागो।

उषा बच्चे को छाती से दबाकर बाहर की ओर भागी और भय-भीत रोते हुए बच्चे को बाहर फेंककर तुरन्त ही पति को बाहर निकालने के प्रयत्न में फिर कमरे में गई ; परन्तु व्यर्थ !

उसी समय धड़-धड़ की आवाज़ के साथ ऊपर की छत आ गिरी और साथ ही उषा भी पति की छाती पर गिर पड़ी।

बेचारी उषा को इतना भी अवकाश न मिला जो पुत्र के लिए ईश्वर से मंगल-कामना भी कर सकती। दोनो पति-पत्नी क्षुधित भूमि के गर्भ में समा गये।

पत

'तेजो, मेरी बिटिया, ससुरारी जाकर कुछ ऐसा काम न करना, जो तेरे चाचा की पत जाय।'

छाती से चिपटाकर रामदीन ने सिसकती हुई तेजो से कहा। तेजो फूट-फूटकर रोने लगी। रामदीन भी रोया, खूब रोया, साथ ही आँसू पोंछता हुआ तेजो को समझाता भी रहा—बेटी, सास दो बातें कहे, तो सुन लेना, मन लगाकर घर का काम-धन्धा करना। दोनो कुलों की लाज रखना। देखो, कोई ऐसा बिगाड़ न हो, जो तेरे चाचा की पत जाय।

बड़ी कठिनाई से अन्त में सिसकते हुए तेजो ने कहा—अच्छा।

रोती हुई तेजो को लोगों ने पकड़कर गाड़ी में बिठा दिया और निष्ठुर गाड़ीवालों ने उसके बिलखने की चिन्ता न कर बैलों को हाँक दिया।

बेचारी तेजो चाचा की छाती के स्थान पर गाड़ी से चिपटकर जितना रो सकी, रोती रही। वह ससुराल जा रही है, जहाँ प्रातः से संध्या तक पिसाई-कुटाई, चौका-बर्तन आदि में जुटा रहना पड़ेगा। काम से तो वह घबराती नहीं है, कर लेगी; किन्तु नहीं, पसेरी-भर अनाज वह एक साथ कैसे पीसेगी ? यदि न पीस पाई, तो सास मारेगी। सास को चाचा के समान उससे प्रेम या उसकी चिन्ता क्यों होने लगी। सासें सब ऐसी ही होती हैं। यही तो तेजो ने सुना है। केवल यही नहीं, सास उसके चाचा को भी बुरा-भला कहेगी, गालियाँ देगी, तेजो को वह भी सुनना पड़ेगा। सिर झुकाकर चुपचाप सब कुछ सहना पड़ेगा। उसने ज़ुबान भी हिलाई, तो कुशल नहीं। फिर तो सास उसकी सात पीढ़ियों तक की ख़बर ले डालेगी और तेजो की पीठ पर झाड़ू जमायेगी। सारे गाँव में डंका पीट देगी—बहू लड़ाकी है !

गाँव वाले हँसेंगे। तेजो के मायके के कुल को दोष देंगे। उसके चाचा की पत चली जायगी। इसीसे तो चलते समय तक चाचा ने उसे सावधान रहने को कह दिया है—बेटी, वह काम न करना, जो तेरे चाचा की 'पत' जाय।

चाचा ने तेजो को इस अग्नि-परीक्षा के लिए क्यों तैयार किया है ? तीन वर्ष की तेजो को माता-पिता छोड़कर मर गये थे, चाचा ही ने तो उसे दुलार-प्यार से पाला है। फिर अब वह तेजो को अपने समीप न रखकर ससुराल क्यों भेज रहा है, तेजो का नन्हा-सा हृदय इस बात को नहीं समझ पाता। फिर भी उसने निश्चय कर लिया, कुछ भी हो, चाचा की पत रखने को सब कुछ करूँगी।

• • •

ससुराल आकर तेजो ने अपना ध्येय केवल एक ही बना लिया है—

चाचा की पत न जाय। प्रातः से संध्या तक वह मशीन की भाँति काम में जुटी रहती है, सास के इशारे पर नाचती है। गाँव की सारी ही स्त्रियाँ देखकर हैरान हैं कि बालिका तेजो इतना काम कैसे करती है।

काम के बल पर तेजो ने सास-ससुर के हृदय को भी जीत लिया है। वह अपने सामर्थ्य से बाहर काम करती है। उसकी सास उसे डंडे की मार नहीं देती, न उसके चाचा के नाम पर गालियाँ ही देती है; बल्कि तेजो का आदर करती है, उससे प्रेम करती है। घर-घर में तेजो का नाम है। सभी उसकी प्रशंसा करते हैं।

तेजो के हृदय की लगन इतनी दृढ़ है कि उसके सम्मुख सारे कष्ट-पीड़ाओं को वह ठुकरा देती है। इसी प्रकार उसके दिन व्यतीत हो रहे हैं। उसका चाचा भी तेजो की प्रशंसा सुनकर संतुष्ट है। वह क्या जाने, उसकी पत रखने के लिए तेजो को क्या-क्या सहना पड़ता है। पसेरी-भर गेहूँ एक बार पीसने में उसका शरीर पस्त हो जाता है, हाथ-पैर काँपने लगते हैं। पीसकर खड़ी होती है, तो सिर में चक्कर आने लगता है। फिर भी पीसती है। रोटी-पानी, झाड़ू-बुहारी, सानी-भूसा सब कुछ करती है। सास को चर्खा कातने के सिवा और किसी भी कार्य्य से अब मतलब नहीं है। रात में बेचारी लेटती है, तो जान पड़ता है प्राण निकल रहे हैं, हड्डी-हड्डी में दर्द है, कमर टूटी जाती है; किन्तु किसी से कहती नहीं। बीमारी में भी काम नहीं छोड़ती। कोई जान भी नहीं पाता, उसे क्या हुआ है।

संसार में तेजो के लिए चाचा से बढ़कर और कौन है? पिता का मुख नहीं देखा, माता भी तीन वर्ष की छोड़कर परलोक सिधार गई थी। कैसे-कैसे कष्ट उठाकर चाचा ने उसका पालन किया है। तेजो को

मा की याद आती, तो रात-रात चाचा उसे चन्दा दिखाया करता था। चाचा का कन्धा ही तेजो की शय्या थी। वह स्वयं भले ही भूखा रह लेता ; परन्तु तेजो के लिए गुड़-दूध की कमी न थी। कितनी ही बार तेजो ने देखा है, चाचा दूध-भात खिलाता और स्वयं चावल का माड़ पीकर सो जाता।

क्या वह बात तेजो भूल सकती है ? गाँव वाले कहते—रामदीन, ब्याह क्यों नहीं कर लेता ? तूने तो इस लौंडिया पर धूनी ही रमा दी ! अरे, घर में लुगाई आ जायगी, तो रोटी-पानी और इस लौंडिया के काम से तो छुट्टी मिलेगी।

चाचा मुस्कराकर कहता—उसने मेरी तेजो को दुख दिया तो ? मैं अपनी तेजो की बैरिन नहीं बुलाऊँगा।

उस बात की क़ीमत आज तेजो का हृदय आँकने लगा है। वह सोचती है—चाचा के त्याग के सम्मुख मेरा कष्ट कुछ भी नहीं है।

तेजो अब घर के काम में पूर्णतः दक्ष हो गई है। सास ने भी उसे निपुण गृहिणी होने का सर्टीफिकेट दे दिया है। तभी तो आज तेजो की सास को घर से निकलने का अवकाश मिला है। कितनी ही परवियें आईं और चली गईं, गाँव-का-गाँव गंगा-स्नान का पुण्य लूट आया ; परन्तु रुकमनी का, गृहस्थी के काम-धन्धे के कारण, कभी भी निकलना न हुआ।

आज घर में उसकी गुणवती बहू आ गई है, फिर वह इस परवी पर गंगा-स्नान के लिए क्यों न जाय ? हँसती हुई रुकमनी मातादीन से बोली—गंगा माई की दया से अब बहू-बेटा दोनो समर्थ हो गये हैं, चलो इस सोमवारी अमावस पर गंगा नहा आयें। बहू सारा काम सँभाल लेगी।

मातादीन ने भी प्रसन्नता-पूर्वक पत्नी की बात स्वीकार कर ली और गाँव की टोली के साथ सम्मिलित हो लिये।

• • •

मातादीन और उसके छोटे भाई देवीदीन में पैतृक सम्पत्ति के बटवारे पर कुछ झगड़ा हुआ था। यद्यपि उस बात को वर्षों व्यतीत हो गये; परन्तु आज तक उनका मन-मुटाव दूर नहीं हुआ। ज़ाहिरा दोनों भाई परस्पर मिलते-जुलते हैं, एक दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित भी होते हैं, फिर भी हृदय साफ़ नहीं है। और पुत्रों तक पहुँचकर तो इस वैमनस्य ने उग्र रूप धारण कर लिया है।

तेजो का पति जयदीन और देवीदीन का पुत्र भगवानदीन तो एक दूसरे के जानी दुश्मन हैं। हर समय लड़ाई-झगड़ा और एक दूसरे को हानि पहुँचाने का अवसर ढूँढ़ा करते हैं। इसी कारण उनकी शत्रुता दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है।

आज अवसर अच्छा है। अमावस्या की रात है और जयदीन घर में अकेला है। इस बार भगवानदीन सारा बैर चुका लेगा—संसार को अपने शत्रु से विहीन कर देगा। उसे चाचा से इतनी ईर्ष्या नहीं है, जितनी भाई से। भाई के कारण तो उसे एक मिनट भी शान्ति नहीं मिलती। हृदय में प्रचण्ड द्वेषाग्नि जला करती है। आज वह अपने हृदय की प्रज्ज्वलित अग्नि को शांत करके रहेगा। उसे न परिणाम की चिन्ता है, न पाप-पुण्य की। उसके हृदय के अन्दर तो प्रतिस्पर्द्धा जोर-जोर से पुकार रही है—प्रतिशोध!—बदला!

× × ×

एक करुण चीत्कार सुनकर तेजो की आँख खुली। उसने देखा—एक मनुष्य हाथ में गड़ाँसा लिये भागा जा रहा है और उसके पति के

अब कोई उसके चाचा के घर पानी न पियेगा, कोई उसे हुक्का भी न देगा, सभी कहेंगे—तेरी तेजो जेल हो आई है,—इसके आगे तेजो का मस्तिष्क काम नहीं देता, हृदय उमड़ आता है, आँखों से झड़ी लग जाती है। वह घण्टों चिल्ला-चिल्लाकर रोती है और थक जाने पर पड़ी-पड़ी सिसकती रहती है।

साथिनें सान्त्वना देने की चेष्टा करती हैं—न रो तेजो, तू सारी बात सच्ची-सच्ची अफ़सर के सामने कह देना, छूट जायगी।

तेजो का हृदय और भी व्यथित हो जाता है। उसकी आँखों के सामने एक तसवीर घूम जाती है, मानो तेजो जेल से छूट गई है। सास, ससुर, चाचा, गाँववाले सभी खड़े हैं। सास कहती है—जहाँ चाहे जा, मेरे लिए जैसे लड़का गया, बहू भी गई।

ससुर कहता है—तू जानती तो थी, मेरा देवीदीन से बैर है, फिर तू उसकी बातों में क्यों आ गई? तेरे जेल जाने से मेरी आबरू चली गई।

गाँववाले भी मानो इशारे से कह रहे हैं—इसे घर में रखोगे, तो बिरादरी से अलग कर दिये जाओगे।

एक चाचा सारी चिन्ता त्यागकर सिर झुकाये तेजो को लेकर चला जाता है। तेजो मायके जाती है; किन्तु आज वहाँ भी उसकी आवभगत नहीं होती। साथ की लड़कियाँ दूर खड़ी उसका मुख निहार रही हैं, समीप नहीं आतीं। एक-दो बूढ़ी स्त्रियाँ कहती हैं—अरी, तूने यह क्या किया तेजो! पुलीस से कह देती, जब तक मेरा चाचा न आयगा, कुछ न कहूँगी। तेरा इतना जिगर कैसे हो गया? कह दिया—मैंने मारा है। रामदीन ने तुझे कैसी मुसीबत से पाला है, तूने बेचारे का सिर नीचा कर दिया।

चाचा माथे पर हाथ रखकर आँसू बहा रहा है, मानो कह रहा है—इसलिए पाल-पोस कर बड़ा किया था! मेरी पत खो दी!

मिलाई पर तेजो ने चाचा को वास्तविक घटना नहीं सुनाई। वह कुछ बोली ही नहीं, बस रोती रही; परन्तु वकील ने न मालूम सब कैसे जान लिया, वह अदालत में तेजो से वही कहलाना चाहता है, जो सत्य है। चाचा ने भी कहा—बेटी, अदालत में यही कहना छूट जायगी। उसने हाँ, हूँ कुछ न की; केवल रोती रही और रोते-रोते लौट आई।

तेजो ने जो बयान पुलीस में दिया, वही जज के सम्मुख 'कोर्ट' में दिया। वकील मुँह देखता रह गया। रामदीन ने सिर पीट लिया।

● ● ●

कल तेजो को फाँसी होगी। रामदीन पागलों की भाँति इधर से उधर घूम रहा है, यथा-शक्ति जो कुछ कर सकता था कर चुका। बेचारा अब क्या करे? वकील कहता है—मेरा सिखाया बयान देती, तो अवश्य बच जाती। अब कुछ नहीं हो सकता।

रामदीन की वेदना का अनुमान कौन कर सकता है। कल उसकी लाड़-प्यार से पली तेजो बिदा हो जायगी। और रामदीन सब कुछ अपनी आँखों से देखेगा। स्वयं ही उसे श्मशान में जाकर फूँक आयेगा!

आज वह तेजो से मिलने जा रहा है, सदैव के लिए मिल आयेगा, अन्तिम मुलाक़ात है।

अट्ठारह वर्ष से जो आँखें तेजो को देखते-देखते तृप्त नहीं हो सकीं, उन्हें आज कुछ मिनट ही तेजो का मुँह निहारकर तृप्त हो जाना पड़ेगा। सारे स्नेह, सारे प्रेम की आज अन्तिम सीमा है। आह! इस थोड़े समय में रामदीन क्या-क्या करेगा? मन-भर तेजो को छाती से चिपटा भी तो न सकेगा।

वह क्या करे ! हृदय वेदना से टुकड़े-टुकड़े होना चाहता है ; किन्तु होता नहीं। तेजो के साथ ही यह सब कुछ उससे छूट क्यों नहीं जाता ? हाय प्राण ! अब तुम किस आशा से रुके हो ? जीवन की निधि, जीवन का ध्येय, जीवन की आशा और सारे जीवन की कमाई—सभी कुछ तो नष्ट हुई जा रही है, अब शेष रही क्या जायगा ?

हाय ! क्या रामदीन अब तेजो को बचाने के लिए कुछ नहीं कर सकता ! कोई उपाय नहीं ? तेजो के बदले क्या रामदीन फाँसी नहीं चढ़ सकता ? क्या वह प्राण न्योछावर करके भी तेजो की प्राण-रक्षा नहीं कर सकता ?

तेजो से भेंट करने वालों की पुकार हुई। रामदीन को सहारा देकर लोगों ने उठाया। सास-ससुर भी चले। रुकमनी ने जिस बहू को बड़ी सुशील समझा था, उसी काली नागिन से वह पूछेगी—तूने मेरे लाल को क्यों खा लिया ?

तेजो सामने आई और चाचा की छाती से लिपट गई। आज भी वह उसी प्रकार सिसक रही थी, जैसे ससुराल आते समय। उस रोज़ चाचा उसे सान्त्वना देने की चेष्टा कर रहा था। आज तेजो चाचा को सान्त्वना देना चाहती है—चाचा, मुझे भूल जाना, रोना नहीं। मेरी इतनी बात याद रखना, पेट-भर रोटी खा लेना।

हृदय के तूफ़ान को रोकते हुए रामदीन ने कहा—बेटी, मेरा सिखाया बयान अदालत में क्यों नहीं दिया ?

सास बोली—अरी, तुझे अपने चाचा की सौगन्ध, सच बता, मेरे लाल ने तेरा क्या बिगाड़ा था ?

तेजो बिलखकर सास के पैरों से लिपट गई—चाचा की सौगन्ध

अम्मा ! मैं बे-क़सूर हूँ। उस समय मैं अपने आपे में नहीं थी। देवीदीन काका ने जो कुछ मुझ से कहा, मैंने कह दिया। मैं ठीक तो देख न सकी, शायद भगवानदीन भैया उन्हें मारकर भागे जाते थे।

सास-ससुर के मुँह से चीख निकल गई। रामदीन छटपटा उठा--हा ! तेजो, तूने अब तक यह मुझ से क्यों न कहा ! हाय ! अब मैं क्या करूँ ?

उसने तेजो को जोर से चिपटा लिया, मानों अब छोड़ेगा ही नहीं। सिसकते हुए तेजो ने कहा— चाचा, मैं जीकर क्या करती, मैंने तो तुम्हारी पत खो दी, जेल का दाग लग गया।

बिछौने पर स्याही-सी फैली है । घबराकर तेजो पति के शरीर से चिपट गई, यह क्या ? खून के फ़ुहारे छूट रहे हैं। तेजो के कुछ समझ में न आया। वह शक्ति-भर चिल्लाकर बेसुध-सी हो गई।

देवीदीन का घर तेजो के घर से सटा हुआ ही था। चिल्लाने की आवाज़ सुनकर उसकी आँख खुली। उठकर क्या देखता है—खून से भरा गँड़ासा लिये भगवानदीन आँगन में खड़ा है। देवीदीन काँप उठा। धीमी आवाज़ से उसने पूछा—यह क्या ?

'आज मैंने भरपूर बदला ले लिया। अब कुछ चिन्ता नहीं, फाँसी चढ़ूँ चाहे काले पानी...'

देवीदीन के समझने को कुछ बाक़ी न रहा। दूरन्देश मनुष्य था, बीच ही में बात काटकर बोला चुप ! चुप ! जो हुआ सो हुआ, ला गँड़ासा मुझे दे और तू चुपचाप नहा-धोकर सो रह, मैं सारी बात सुधार लूँगा।

चारों ओर सन्नाटा था, अड़ोस-पड़ोस के सभी गंगा-स्नान को गये थे। जो थे भी, उन तक तेजो की चीत्कार न पहुँची थी। देवीदीन दबे पैर घर में घुसा और गँड़ासा चारपाई पर रखकर उसने तेजो को उठाया। सहमी हुई तेजो थर-थर काँप रही थी। देवीदीन को देखकर एक बार फिर उसने चिल्लाने की चेष्टा की ; किन्तु तुरन्त ही देवीदीन ने हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया—चुप-चुप ! सारे घर को बँधायेगी क्या ? देख सबसे कह देना—रात हम दोनों में लड़ाई हुई थी, जयदीन ने मुझे बहुत मारा था, जब वह सो गया, तो मैंने गँड़ासा उठाकर गर्दन पर पटक दिया। क्रोध में मुझे कुछ ज्ञान न रहा। क्रोध में मारने का दण्ड नहीं मिलता, तू भी बच जायगी और दूसरे लोग भी बच जायँगे। पुलिस तुझे पकड़ेगी, घर में तू ही तो है ? कौन जाने किसने मारा है।

मेरी सिखाई बात कहेगी, तो हम तुझे अभी छुड़ा लायेंगे, वरन् तू जेल जायगी।

भोली तेजो को पट्टी पढ़ाकर देवीदीन ने सारे गाँव को इकट्ठा कर लिया और धीरे-धीरे सबके कान में कह दिया—रात दोनो में लड़ाई होते तो मैंने सुना था, फिर क्या हुआ मैं नहीं जानता। पिछले पहर चिल्लाने की कुछ आवाज़ कान में पड़ी, तो यहाँ आकर यह हाल देखा।

पुलिस आई और खून से लथपथ तेजो को पकड़ ले गई। रोता हुआ देवीदीन भी उसके पीछे-पीछे गया।

गाँव वाले कह रहे थे—यह तनिक-सी लौंडिया तो पूरी विष की गाँठ निकली! और देवीदीन? भाई-भाई में कैसा ही बैर हो रक्त-मांस का प्रभाव नहीं मिटता। देखो, भतीजे के लिए कितना रो रहा है।

• •

जेल आकर तेजो कई रोज तक बेहोश की भाँति पड़ी रही। उसे जान ही न पड़ता था, क्या हो गया है और क्या होने वाला है। जेल की अन्य क़ैदिनें और जमादारिन भी उससे डरती थी—उस पर तो खून चढ़ा है, कौन उसके पास जाने का साहस करे?

जब वह कुछ सावधान हुई, तो खूब रोई और रो-रो कर उसने सारी सच्ची घटना कह सुनाई। वे लोग कहने लगीं—अरी बावली, तू ने तो अपने पैर आप ही कुल्हाड़ी मार ली, अब छूट भी जाय तो क्या जेल का दाग तो लग ही गया।

तेजो सोचने लगी—चाचा ने कहा था, बेटी वह काम न करना, जो तेरे चाचा की पत जाय। वही बात होकर रही। जेल का दाग लग गया। चाचा की बात चली गई।

रोना

उसने रोना सीखा था। रोना सीखकर जन्म लिया था, वह रोने के साथ पैदा हुई थी। उसकी जन्मपत्रिका किसी चतुर ज्योतिषी ने नहीं बनाई थी, वरना वह उसमें रोना ही लिखता।

बात कुछ इससे विपरीत हो गई, सुधा उल्टी गंगा बहाने का प्रयास करने लगी। वह विपरीत धारा में बहने लगी। व्यर्थ चेष्टा करने लगी हँसने को, रोना भूल जाने की।

रो-रोकर जब वह बड़ी हुई, तो उसे सारा संसार हँसी की प्रतिभा से उद्दीप्त दिखाई दिया। सौन्दर्य का विकास उसकी हँसी ही में जान पड़ा, आनन्द का उद्रेक हँसी ही में दृष्टिगोचर होने लगा। उसे कुछ ऐसा ज्ञात हुआ, प्रकृति का सारा वातावरण हँसी से युक्त है। मलयानिल

के झोंकों में उसे हँसी का मृदु संगीत सुनाई दिया। सरिता के कल-कल में, पक्षियों के कलरव में, सारी प्रकृति के वायुमंडल में उसे हँसी ही का अधिकार जान पड़ा।

रंग-बिरंगे फूल जादूभरी मुस्कान में तल्लीन हैं, कलिकाएँ हँसी के भार से खिली पड़ती हैं। उनकी हँसी कैसी सुखद है, कैसी अमिट है। अपनी हँसनेवाली आकृति को वे किसी समय भी छिपा नहीं पाती हैं। बड़ी हो जाती हैं, कलिका से पुष्प का रूप धारण कर लेती हैं; किन्तु हँसी में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। वे भीनी भीनी मुस्कराहट से सदा मुस्काती ही रहती हैं, मानो उन्होंने हँसी पर विजय प्राप्त करके उसे स्थायी बना लिया है।

उषा का आगमन भी तो मुस्कराते हुए होता है। उस हँसी में कैसा जादू है! सारी प्रकृति एकबारगी खिल-खिलाकर हँस उठती है। उसकी बिदाई में भी रोना नहीं होता—उस समय भी सारा वातावरण हँसी में डूबा रहता है। सारा सार हँसी ही में है, चारो ओर हँसी ही का साम्राज्य है; हँसी ही का अधिकार है।

फिर सुधा ही क्यों रोये? वह भी हँसे क्यों नहीं? सभी हँसते हैं, सारा संसार हँसता है, जड़-पदार्थ, जीव-जन्तु सब हँसते हैं। हाँ, सुधा की ही भाँति कुछ हृदय रोते हैं; यह उनकी भ्रान्ति है, उनका मोह है, उनकी भारी भूल है। सुधा अब नहीं रोयेगी।

(२)

सुधा बाल्य-काल ही से अनाथिनी थी, मातृहीना थी। पिता भी नहीं थे। ऐसा कौन था जिसे वह अपना कहती? फिर वह रोती क्यों नहीं? उसके सारे अतीत काल की स्मृति में रोना है। सिवा माता-पिता के और सब कोई हैं; किन्तु सुधा के लिए अपना कहने को कोई

नहीं है। उसका हृदय खाली है, और वह रोती है। सुधा को भूख लगती है, कहे किससे ? रोने लगती है। घर में खाद्य-पदार्थों का अभाव नहीं ; मगर भोली-भाली सुधा का मन रखनेवाला कोई नहीं। फिर उसे किसी से कुछ कहने का साहस कैसे हो ? जब घण्टे-भर वह भूख-भूख चिल्लाती है, तब कोई उपेक्षा के भाव से थाली परस देता है। सुधा को अभी खाना नहीं आता ; पर इसकी चिन्ता किसे है, जो उसे ठीक से खाना खिला दे ? कभी वह भूखी रह जाती है, कभी मिर्च का हाथ आँखों में लगा लेती है, और कभी चरपरी तरकारी का बहुत-सा भाग मुँह में डाल लेती है। मिर्च के कारण मुँह जल उठता है, और सुधा रोने लगती है। इसी प्रकार उसके रुलाने को अनेक साधन जुटते रहते हैं, और वह हर समय रोती है।

नौकर सन्ध्या से ही बिछौना बिछा देता है ; किन्तु सुधा को बिछौने पर सुला देने की फ़िक्र उसे भी नहीं होती। घर में अनेक बच्चे हैं, और नौकर के लिए सब समान हैं। हर समय इतनी याद किसी को कैसे रहे ?—सुधा के मा नहीं है।

सुधा भी तो अपना यह अभाव अभी समझ नहीं पाती, और न अपनी ज़रूरियात का नियम ही जानती है। उसे नींद आती है तो जिस स्थान पर खेलती रहती है, वहीं सो जाती है। जाड़े की रातें हैं, सब अपने-अपने कमरों में अंगीठियाँ लिये बैठे हैं ; कार्यवश कोई बाहर निकलता है, तो चिल्ला उठता है—अरे यह क्या ! कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है और सुधा ओस में पड़ी है !

थोड़ी देर को सब का मन करुणा से भर जाता है। सब लोग अपनी भूल अनुभव करते हैं ; किन्तु रात्रि के साथ ही वह करुण विचारधारा विलीन हो जाती है और सुधा के रोने के साधन जैसे चुकते ही नहीं हैं।

(३)

बड़ी होकर सुधा कुछ ऐसा अनुभव करने लगी, मानो वह रोते-रोते कुछ थक-सी गई है। उसके हृदय में हँसने की आकांक्षा उत्पन्न हुई, और वह ख़ूब हँसने लगी। अब हर समय उसके ओठों पर हँसी का अधिकार रहता है। चेष्टा करने पर भी हँसी रुकती नहीं, अवसर मिला और हँसी फूट पड़ी। घंटों हँसी का क्रम थमता ही नहीं। हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं, दम घुटने-सा लगता है, आँखों में आँसू भर आते हैं ; किन्तु फिर भी बेहया हँसी क़ाबू में नहीं आती !

कोई कहता है, उसे हँसी के दौरे होते हैं। कोई कहता है, प्रत्येक बात की सीमा होती है ; हर समय हँसना भी अच्छा नहीं लगता। बिना बात की हँसी पागलपन है। सुधा को कभी-कभी अपनी हँसी के कारण लोगों की नाराज़गी भी सहनी पड़ती है। बूढ़ी स्त्रियाँ कहती हैं—हमारा पोपला मुँह देखकर हँसती है। कभी तेरे दाँत भी तो टूटेंगे। ससुराल में जाकर सास के ऊपर हँसेगी, तो मालूम होगा।

कैसी विडम्बना है ! उसकी हँसी को सब अपने ही ऊपर आरोप करने की चेष्टा करते हैं, कोई उसकी हँसी का भाव कुछ और समझ ही नहीं पाता। ख़ैर, कुछ भी हो, सुधा को अपनी इस हँसी से अत्यन्त सन्तोष है। इस हँसी ने उसके प्रेम-विहीन जीवन में रस उत्पन्न कर दिया है, और इस हँसी ही के आधार पर उसने इस घर में अपने लिए स्थान बना लिया है। उसकी हँसी में कोई दोष भले ही निकाल ले ; किन्तु उसका संग-साथ अब सबको प्रिय है। थोड़ी देर के लिए भी यदि वह मौन हो जाय, तो सारे घर को सन्नाटा मालूम होने लगता है। बिना संगीत के जिस प्रकार महफ़िल नहीं जमती, उसी प्रकार सुधा की हँसी के बिना इस घर के लोगों की बैठक नहीं जमती। सुधा की

हँसी के बिना सारा आनन्द फीका जान पड़ता है ; बातों में रंग ही नहीं आता है।

जितना दुःख सबको अब सुधा के मौन रहने से होता है, उतना शायद किसी को सुधा को ओस में पड़े देखकर भी पहले कभी न हुआ था। बहुधा लोग खीझकर उसकी हँसी में दोष निकालते हैं, हँसी के प्रति उपेक्षा भी दिखाने लगते हैं ; किन्तु कुछ ही देर में उनकी यह धारणा बदल जाती है। सुधा की सरल हँसी को दूषित कहना उन्हें अन्याय जान पड़ता है, मन-ही-मन वे अपने को धिक्कारने लगते हैं।

इस प्रकार हँस-हँसकर सुधा ने अपना सारा अभाव दूर कर दिया है। उसकी धारणा है कि वह हँस-हँसकर ही साराजीवन गुज़ार देगी।

(४)

सुधा ने ससुराल जाने की कल्पना में भी चिन्ता का समावेश नहीं होने दिया । ससुरालवाले कैसे भी हों, फ़िक्र क्या है ? सुधा की दृढ़ धारणा है, वह अपनी हँसी के बल पर सबको मुग्ध कर लेगी। ससुराल में भी वह ऐसा ही वायु-मंडल उत्पन्न कर देगी—सुधा के बिना किसी को चैन न पड़ेगा। हँसी के मन्त्र का प्रयोग वह कर चुकी है, और उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष देख चुकी है।

कुछ ही दिनों में सास कहने लगेगी, बहू बड़ी हँसमुख है। पति-प्रेम को जीतने में तो यह हँसी सोने में सुगन्ध का काम करेगी। सुधा का शेष जीवन कितने प्रेम में बीतेगा ! सुख, शान्ति, सन्तोष—इनके सिवा उसके जीवन में दूसरी वस्तु प्रवेश ही न कर सकेगी ; सभी पर सुधा अपनी हँसी-द्वारा विजय प्राप्त कर लेगी।

सास असन्तुष्ट होकर यदि कुछ कहेंगी—नाराज़ होंगी, सुधा फिर

भी मुस्कराती रहेगी। सास का दिल भी आख़िर पत्थर का थोड़े ही होगा, जो सुधा के अधरों पर सरल मुस्कराहट देखकर भी न पिघले? और वह कमरे में जाकर पति के सामने इतनी मधुरता से हँसेगी कि पति उसे स्वर्गीय हँसी की प्रतिमा समझ लेगा। उसका सम्पूर्ण हृदय सुधा की हँसी से भर जायगा, फिर उसे इस हँसी के सिवा और कुछ दिखाई ही न देगा, हँसी की मधुर मीठी झंकार सुनने के सिवा उसे और कोई आकांक्षा ही न रहेगी।

उसी हँसी की झंकार-ध्वनि सुनकर सास की रही-सही नाराज़गी रफूचक्कर हो जायगी -- बहू सरल प्रकृति की है। कैसी भोली भाली है। किसी बात का बुरा नहीं मानती।

सुधा की हँसी कभी लोप नहीं होगी, पति का अनन्य प्रेम पाकर तो वह विकसित ही होगी। हँसने को कितने साधन जुटे रहेंगे? इस घर में प्रेम का अभाव ही रहा है—रोने ही के साधन मिले हैं, अब सारे जीवन में हँसी ही का साया रहेगा। यह मतवाली हँसी चिर-स्थायी है।

वाह री हँसी, तुझे अपनाने में कितना सुख है! कैसा आनन्द है! कैसी निराली मस्ती है!

(५)

ससुराल आकर न-जाने क्यों सुधा की वह धारणा कुछ डगमगाने लगी—उसमें कुछ परिवर्तन के-से लक्षण प्रतीत होने लगे। वह प्राणपण से हँसने की चेष्टा करती है; किन्तु हँस नहीं पाती।

सुधा चिन्ता में डूब गई—क्या उसकी इतने दिनों की साधना सब व्यर्थ हो जायगी? यह है क्या, जब वह हँसती है, ऐसा जान पड़ता है, अन्दर-ही-अन्दर कोई उसके हृदय के टुकड़े किये देता है।

कहाँ तक छिपेगा, आँखें साफ़ बता रही हैं, रोने की ज़रूरत है ; हृदय कह रहा है, मुझे देखो, मेरे पास रोने की तृष्णा है, रोने की भावना है। और मानो प्रेम कह रहा है, मेरे पास केवल रोना ही रोना है। तुम्हारा पति-प्रेम ! वह तुम्हारे लिए रोने के अनेकों साधन जमा कर रहा है।

शायद सुधा के पति को यह हँसी कुछ प्रिय नहीं है। वह इस हँसी को उच्छृङ्खलता में शुमार करता है। दस-पाँच दिन की हँसी भी हो गई, केवल रंगरेलियों ही से तो काम नहीं चलता ? संसार में कितने काम-काज हैं, जीवन में कितनी चिन्ताएँ हैं।

सुधा के पति ने उसकी हँसी को दूसरे ही ढंग से आँका है, जो सुधा की कल्पना से बिल्कुल विपरीत है। वह सुधा के हृदय को नहीं जानता और न उसकी हँसी को जानता है। वह सोचता है, कैसी स्त्री है, इसे हर समय हँसी-मज़ाक ही सूझता है। यह कोई अच्छे लक्षण नहीं ; भला इससे गृहस्थी के काम कैसे होंगे ? और मेरी तो इसे तनिक भी चिन्ता नहीं ! दिन-भर का थका-हारा घर आता हूँ, सहानुभूति प्रकट करना तो दूर , यह ठट्ठा मारकर हँसने लगती है, मानो मेरी हँसी उड़ाती है। भई, मैं कोई लखपती आदमी तो हूँ नहीं, जो घर बैठा तेरे साथ हँसता ही रहूँ। कुली की तरह दिन-भर मेहनत-मजूरी करता हूँ, तब कहीं रोटी मिलती है।

सास कहती है, सलीका ही नहीं है। कैसी बेशऊर लड़की है ! ससुराल में भी इस तरह कोई हँसता होगा, छोटे-बड़े किसी का लिहाज़ ही नहीं है।

सुधा अब कुछ-कुछ समझने लगी है—उस घर में किसी को सुधा से कोई विशेष आशा न थी, किसी को उसे अपनाने की ज़रूरत नहीं थी, इस कारण यह हँसी निभ गई। वहाँ तो लोगों को उसकी

ज़रूरत हँसने के ही लिए होती थी, किसी की वह अपनी नहीं थी, और यहाँ तो सबको उसे अपनाना है। यहाँ उसे दूसरों की इच्छा पर हँसना होगा और दूसरों की इच्छा पर रोना। फिर यह हँसी किस तरह कायम रह सकती है? सुधा को अन्देशा है, कहीं उसके मुँह पर ही सब कहने न लगें—तुम तो बस सुख की साथिन हो। कहीं सुधा की हँसी दूषित न हो उठे? कहीं ऐसा न हो, इस हँसी के त्यागने के सिवा और कोई तरीक़ा ही न रहे? किन्तु इतनी निराशा क्यों? इस प्रकार अधीर होना ठीक नहीं, कुछ दिन प्रतीक्षा तो करनी ही चाहिये।

(६)

सुधा के लिए उसके घर से बुलावा आया है; पर वहाँ उसने अपने जीवन का इतना भाग व्यतीत किया है कि पति को छोड़कर वहाँ जाना कुछ सुखद नहीं लग रहा। वह पति को इतने ही दिनों में कितना प्यार करने लगी है। न-जाने कब से केवल पति शब्द के लिए उसने अपने हृदय में कितना प्रेम संचित करके रख छोड़ा है। बहुत दिन पहले ही वह जान चुकी है, संसार में पति के सिवा और मेरे लिए अपना कोई नहीं है। और स्त्री-हृदय की सब से बड़ी तृष्णा सुधा के हृदय में भी भरी है—वह पति का प्रेम प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा रखती है। अपनी उस तृष्णा को शांत करने के लिए तो उसने हँसी की साधना की है। वह अपने हृदय की सारी सामग्री पति पर न्योछा-वर कर देना चाहती है और साथ ही पति के हृदय में भी अपने सिवा और कुछ नहीं रहने देना चाहती।

उसने कितनी बार सोचा है, मेरी हँसी की क़ीमत आज तक किसी ने नहीं आँकी। उसकी वास्तविक परख किसी ने नहीं की। उसकी हँसी का सच्चा रूप आज तक किसी ने नहीं देखा। अगर

अपने आनन्द के लिए, अपने मनोरञ्जन के लिए, किसी ने उसकी हँसी में सहयोग दिया तो क्या हुआ ? इनसे सुधा के हृदय की प्यास तो बुझ ही नहीं सकती !

सुधा तो अपनी हँसी में अनुपम सौन्दर्य देख रही है, विलक्षण गुण अनुभव कर रही है। अपनी हँसी के अन्दर वह एक अलौकिक चमत्कार पा रही है, जिसके सम्मुख संसार का सारा सौन्दर्य फीका है।

माता जीवित होती, तो अवश्य इस हँसी की कोमलता पर, उसके स्वभाव की इस सरसता पर और हँसी के इस माधुर्य पर कुर्बान हो जाती। अब तो केवल एक ही आशा शेष है—सुधा का पति अवश्य एक दिन इस हँसी पर मुग्ध होगा। इस जीवन में उसके लिए पति के सिवा और कुछ आवश्यक भी नहीं है, फिर पति से विलग होना अच्छा क्यों लगे ?

किन्तु यह सारी सोची हुई बातें कुछ असम्भव-सी प्रतीत होती हैं। बीच में यह कैसा जाल बिंध गया है—चेष्टा करने पर भी हँसी की साधना डगमगा रही है। आशा निराशा में परिणत हुई जा रही है। बरसों की संचित शक्ति क्या इस प्रकार एकबारगी नष्ट हो जायगी ? सुधा यह कैसे बरदाश्त करेगी ? क्यों न वह एक बार सारी शक्ति लगा-कर प्रयास कर ले— उस हँसी को फिर एक बार दृढ़ता से जकड़ ले ? उस तपस्या-स्थल में जाकर एक बार फिर उपासना कर डाले। इस बार की तपस्या ऐसी कठोर तपस्या हो कि, जिसका प्रभाव जीवन-भर क़ायम रहे।

यह विचार बिल्कुल ठीक है। इधर पतिदेव इस हँसी की याद कर-करके तड़प उठेंगे। वे एक बार जान लेंगे कि वह हँसी कैसी मीठी है, कैसी प्यारी है ! क़द्र करने योग्य है, महत्व देने लायक है।

सुधा सौन्दर्य की देवी है, सरलता, मधुरता, कोमलता—ऐसी ही वस्तुओं से उसके हृदय का निर्माण हुआ है। बिना उसकी हँसी के एक-एक क्षण भार-स्वरूप जान पड़ता है।

फिर वे बेचैन होकर पत्र लिखेंगे—सुधा चली आओ, तुम्हारी याद आती है। हँसते समय तुम्हारे कपोलों में पड़नेवाले गड्ढे भूलते ही नहीं। तुम चली गई हो, तुम्हारी हँसी की सुखद झंकार चारों ओर गूँज रही है, और गूँज रही है मेरे दिल में। तुम्हारी हँसी का मूल्य मैं उसके अभाव में आँक पाया हूँ। सुधा, अब समझ गया हूँ, तुम्हारी उस मीठी हँसी के बिना जीवन ही फीका है। इस हँसी ने मेरे जीवन को रसमय कर दिया है। ओह, कैसी सुन्दर है तुम्हारी वह हँसी!

सुधा हँस पड़ेगी। नहीं-नहीं, उसके हृदय का कण-कण हँस पड़ेगा। वह आनन्द में विभोर हो जायगी, हँसी में तन्मय हो जायगी। फिर जीवन-भर वह उस मस्ती को भूल न सकेगी, बिल्कुल लीन हो जायगी—अपनी हँसी में डूब जायगी। सारा अभाव दूर हो जायगा, जीवन की सारी समस्याएँ सुलझ जायँगी। और चाहिये ही क्या?

सुधा चली गई, और वहाँ जाते ही वह हँस पड़ी, बिना प्रयास के ही उसकी हँसी फूट पड़ी। उसकी आँखों के सामने वही पुराना वातावरण उपस्थित हो गया। लोगों ने कहा—ओह! आज कितने दिनों बाद इस घर में चहल-पहल मालूम हुई है। सुधा ससुराल में बिना हँसे तो रही न होगी। आज उस घर में बिल्कुल सन्नाटा होगा।

सचमुच सन्नाटा होगा! घर से अधिक उसके पति के हृदय में सन्नाटा होगा। एक निमेष को उसका हृदय एक प्रकार की पीड़ा से भर गया; किन्तु उसने अपने को सम्हाल लिया—इस पीड़ा के बाद हँसी ही हँसी है, प्रेम ही प्रेम है।

इस कल्पना ने सुधा को फिर हँसी के सब्ज़ बाग दिखाये, और वह हँस पड़ी।

(७)

सुधा के कुछ दिन भी हँसी में बीत न पाये। हँसने की आकांक्षा तो दिन-भर रहती है ; किन्तु हँसने का अवसर तो मिलता ही नहीं। वह सवेरे से कोई-न-कोई बहाना लेकर छत पर बैठ जाती है। घड़ी पास रख लेती है। अब सात बजा, साढ़े सात बजा, आठ, फिर नौ, इसी प्रकार कितने बज जाते हैं। स्टेशन पास है, गाड़ी आने की आवाज़ सुनाई देती है, आशा से हृदय धड़-धड़ धड़कने लगता है। इसी गाड़ी में तो होगा उसके हँसने का साधन, प्रेम की अमरवल्लरी, उसकी आजीवन मस्ती की चिरस्थायी आशा।

गाड़ी आये कितनी देर हुई, पोस्टमैन नहीं आया। ओह ! अभी तो ग्यारह ही बजे हैं, ठीक बारह बजे पोस्टमैन आता है। बारह भी बजते हैं, पोस्टमैन भी आ जाता है ; किन्तु वह काल्पनिक प्रेम-पत्र, वह हँसी को बाँध रखने का दृढ़ बन्धन, वह साधन का फल प्राप्त नहीं होता।

कितने बज जाते हैं, कितनी गाड़ियाँ निकल जाती हैं ! कभी-कभी पत्र भी मिल जाता है ; किन्तु उसमें हँसी का ज़िक्र भी नहीं होता, फिर आशा पूरी कैसे हो ?

आज का पत्र कैसा निराशाप्रद है ? उसने तो मानो हँसी पर आघात किया ; आघात ही नहीं, वज्राघात किया है। उस हँसी के ख़जाने पर डाका डाला गया है। उस हृदयरूपी ख़जाने के पटों पर हथौड़ों की चोट की गई है। लिखा है—मैं तुम्हें लेने आता हूँ, तुम्हारा अब यहाँ आ जाना बहुत ज़रूरी है। माताजी बीमार हैं।

मुझे आफ़िस के समय पर रोटी भी नहीं मिलती। देखो, इस बार हम लोग कष्ट में हैं, आकर सावधानी से रहना। तुम अपनी हँसी के सामने समय-असमय का विचार नहीं करतीं। ऐसा न हो, माताजी कहें, मैं तकलीफ़ में हूँ, और इन लोगों को अपनी रँगरेलियों ही से छुट्टी नहीं मिलती। संसार में रहकर व्यवहार सीखना आवश्यक है। आनन्द के समय हँसी अच्छी लगती है और मुसीबत में चिन्ता, यही सांसारिक नियम है।

सुधा इस पत्र का उत्तर पति को कैसे देगी, वह अपना हृदय चीरकर तो दिखा नहीं सकती—क्या उसे तुमसे प्रेम नहीं है? तुम्हारे घरवालों से सहानुभूति नहीं है? तुम लोगों के कष्ट से क्या उसे पीड़ा नहीं होती? हाँ, वह इन सारी चिन्ताओं को हँसी में मिला देना चाहती है। वह स्वयं क्या कुछ कम दुखी है? उसके अतीत काल के इतिहास में किस पीड़ा का, किस कष्ट का अभाव है? किन्तु उसने सब को हँसी में रँग दिया है। सब के मिश्रण से उसने एक अनुपम रस तैयार किया है, जिसके द्वारा वह सब पर विजय प्राप्त करना चाहती है, साथ ही तुम्हारे प्रेम पर भी। और उसी रस में वह स्वयं डूबी रहना चाहती है।

किन्तु विजय कहाँ! उसकी तो अब चारों ओर पराजय-ही-पराजय हो रही है। इस घर में, जहाँ वह हँसी की प्रतिमा विख्यात थी, जहाँ वास्तव में उसने लोगों पर अपनी हँसी का जादू डाल दिया था, जिस स्थान पर उसने विजय पाई थी; आज वहीं उसकी पराजय हो रही है। सुधा क्या करे, लज्जित-सी सब से अपना मुँह छिपाती फिरती है। सभी कहते हैं—सुधा को हो क्या गया है? यह परिवर्तन क्यों हुआ? सुधा अपमा मुँह शीशे में देखती है, तो उसे स्वयं अपने पर करुणा

होती है। उसकी आँखें छलछला आती हैं। जान पड़ता है, हँसी के साम्राज्य का अन्त हो गया। बस, अब उसकी हार ही हार है।

(८)

पहली बात सुधा के पति ने यही कही—सुधा, तुम्हें मेरे साथ चलना कुछ अच्छा तो लगेगा नहीं, यहाँ तो मैं देखता हूँ, सहेलियों के साथ ख़ूब क़हक़हे लगते हैं, वह तो बीमारी का घर है, और...

वे इतना ही कहकर ख़ामोश हो गये। सुधा को इन वाक्यों से मर्मान्तक पीड़ा हुई—यह हँसी तो उल्टा प्रभाव दिखा रही है, यह तो उसे पति के हृदय से दूर फेंके देती है! मुग्ध होने की अपेक्षा वह उससे घृणा कर रहा है। इस हँसी के कारण वह सब से बहुत दूर हुई जाती है। यदि उसका पति यह हँसी न सुनता, तो शायद उसे विश्वास हो जाता—सुधा ससुराल जाकर इस स्थिति में भी सन्तुष्ट रहेगी। यह हमारी माता की बीमारी से चिन्तित है।

सुधा का जी चाहा, सारी स्थिति पति को समझा दे—पुराने स्वभाव के अनुसार उसे सबको दिखाने के लिए बनावटी हँसी हँसनी पड़ती है, वरना लोग कहेंगे, यह पति की ओर से दुखी है। वैसे उसकी हँसी का अन्त तो अब हुआ ही जा रहा है; किन्तु वह तिलमिलाकर रह गई, उससे बोला नहीं गया। गला रुँधने लगा, आँखें भर आईं।

पतिदेव कहने लगे—मेरी बात इतनी बुरी लगी? माफ़ करना, अब कभी कुछ न कहूँगा।

सुधा का मन चाहा, पति के पैरों से लिपटकर फूट-फूटकर रो ले। रोने से उसका पति, सम्भव है, उसके मन की बात समझ ले; किन्तु साहस किस बल पर होता, कोई सहारा तो है नहीं? जैसी कल्पना कई बार उसने माता के हृदय की की है, और उसके बाद पति-हृदय की,

क्या यह हृदय वैसा है ? यदि नहीं, तो वह सुधा के हृदय को कैसे जानेगा ? सुधा उस उमड़ी हुई पीड़ा को चुपचाप पीकर बैठी रही ।

× × ×

अब सुधा ने सब कुछ अच्छी तरह समझ लिया है ; आँखों देख लिया है, संसार क्या चाहता है ; उसके घरवाले उससे क्या चाहते हैं । सास चाहती है, बहू आँखों में आँसू भरकर पूछे—अम्मा, तुम्हें बड़ी पीड़ा है ? बीमारी की चिन्ता के कारण बहू से भर-पेट रोटी भी न खाई जाय, उसके मुँह पर हँसी की झलक न दिखाई दे, चिन्ता की रेखाएँ निरन्तर अंकित रहें ।

और वह देखती है, पड़ोस की वह श्यामा, जिसके मुँह पर दम्भ विराज रहा है, मानो साक्षात् पाखंड की मूर्ति है । सुधा के पति के आफ़िस से आने के समय श्यामा घर में आ विराजती है और मुँह देखते ही कहती है—राम-राम, मारे चिन्ता के बाबू की आज-कल क्या दशा हो रही है, मुँह कैसा कुम्हला गया है, मेहनत भी तो कुछ कम नहीं करनी पड़ती । बाबू, यह तुम्हारा ही साहस है !

श्यामा बात करते-करते दो बूँद आँसू भी टपका देती है । सुधा देखती है, इन दो बूँद आँसुओं का उसके पति पर कैसा जादू की तरह प्रभाव पड़ता है । और सुधा का मुस्कराकर पूछना—खाना खा लो ! कुछ भी असर नहीं रखता, व्यर्थ है ।

पराजय मानो खुल खेलना चाहती है । चारो ओर से ऐसे ही कारण एकत्रित हो रहे हैं कि सुधा की सेवा-शुश्रूषा व्यर्थ गई ! सास अच्छी न हो सकीं, उनकी मृत्यु हो गई ।

सुधा ने पति का मन बहलाने की कितनी चेष्टाएँ कीं, सब व्यर्थ गईं ; किन्तु श्यामा ने अपने बनावटी आँसुओं द्वारा बाबू का सारा

ग़म बहुत शीघ्र दूर कर दिया। साथ ही बाबू के हृदय पर अधिकार भी कर लिया है। सुधा ने भी अब अपनी पराजय स्वीकार कर ली है। उसे अपनी भूल, अपनी भ्रान्ति, मालूम हो गई है—संसार में हँसना नहीं, रोना ही रोना है।

ओह, सुधा भूल क्यों गई थी? हँसी का सारा संसार रोने के मसाले से बना है। प्रकृति की हँसती हुई आकृति केवल भ्रम है। इसके पीछे रोना, अनन्त रोना—छिपा पड़ा है। कलियाँ हँसती अवश्य हैं, ख़ूब हँसती हैं; सुधा ही की भाँति हँसी को अमर कर देना चाहती हैं; किन्तु परिणाम-स्वरूप एक दिन हँसी का युग बीत जाता है और रोने का युग प्रारम्भ होता है। वे मुरझाती हैं, हँसी समाप्त हो जाती है, मुस्काने का अन्त हो जाता है, और एक दिन वे पृथ्वी पर गिरकर हाहाकार करके रो उठती हैं। हँसी के पतन का ऐसा भयंकर नज़ारा और क्या देखने को मिलेगा?

सुधा का भ्रम मिट गया, आज उसे संसार की प्रत्येक वस्तु में रोना ही दीख रहा है। प्रकृति की सारी चमत्कारी में रोना-ही-रोना छिपा जान पड़ता है। इस सारे सौन्दर्य में हँसी नहीं, रोना है।

और मनुष्य-जन्म भी रोने ही के लिए होता है, तभी तो दुःख, दर्द, बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु कैसी-कैसी वस्तुएँ बनी हैं रोने के लिए!

सम्भव है, इस रोने ही में सब कुछ हो! कोई रहस्य हो, तत्त्व हो, संसार का सार छिपा हो? जीवन के आदि में भी रोना है, जीवन के अन्त में भी रोना!

सुधा का निश्चय अब बदलेगा नहीं, वह आज से रोने की सीमा ढूँढ़ेगी।

सुरिया

'नौचन्दी का मेला कैसा होता है अम्माँ ?'

'मैंने नहीं देखा बेटी !'

'और मैंने भी नहीं। चलो न अम्माँ !'

गहरी साँस छोड़कर अम्मा बोली—कैसे चलूँ सुरी, शरीर पर साबित कपड़ा है न पेट को अन्न। किसका मेला-तमाशा ! और तेरे दादा का जी भी तो अच्छा नहीं है बेटी !

कुछ सोचकर सुरी बोली—हम ग़रीब हैं न अम्माँ ?

'हाँ बेटी !'

सुरी घर के एक कोने में बैठ गई और लत्तों की अपनी मैली गुड़िया

लेकर सोचने लगी—सुधा की गुड़िया कैसी अच्छी है—गुच्छीदार बाल हैं, मेम-ऐसी गोरी है, साया पहने है, जूते-मोज़े पहने है, लिटा दो तो आँखें बन्द कर लेती है और उठा दो तो फिर आँखें खोल देती है। सुधा कहती थी, बहुत पैसों की है।...चार पैसे की होगी !

और जाने क्या सोचने लगी सुरिया, उसकी आँखें डबडबा आईं। उसके नन्हे-से कोमल हृदय को निराशा ने घेर लिया। वह स्तब्ध बैठी ही रह गई।

मा ने प्यार से कहा—क्या करती है सुरी ? रोटी खा ले।

सुरी ने गर्दन हिला दी—न। और आँसू पीने की चेष्टा में उसका मुँह लाल हो गया।

तनिक-सी सुरिया कैसे जानती है—अम्माँ-दादा ग़रीबी से दुखित हैं ? इसीसे तो मन के भाव अम्माँ से छिपा रही है, किन्तु उसका मन मेले के लिए बेचैन है।

माता के हृदय में व्यथा का बवंडर-सा उठ आया। तवा चूल्हे पर ही छोड़कर भागी—सुरी, मेरी रानी बिटिया, उदास क्यों होती है ? दादा को आने दे ; मैं कहूँगी, तुझे नौचन्दी ज़रूर ले चलेंगे।

अम्माँ ने आँचल से मुँह पोछ दिया। सुरिया का मन हल्का हो गया। अम्माँ की बात फिर टाल नहीं सकी। रोटी खाने लगी।

बालिका का हृदय ही तो, थोड़े आश्वासन में खिल उठा।

'अम्माँ, सुधा मेले से बहुत अच्छे-अच्छे खिलौने लाई है और गुड़िया तो बहुत ही सुन्दर है।'

अम्माँ मन की पीड़ा समेटते हुए हँस दी—कैसी है ? मेरी सुरी-जैसी सुन्दर है ?

सुरी और भी खिल उठी—अम्माँ, सुधा तेज मोटर पर नौचन्दी जाती है। सुधा के बाबूजी के पास इतना पैसा कहाँ से आ जाता है? वे दिन-भर कुर्सी पर बैठे-बैठे बात करते रहते हैं, कभी मील में इधर-उधर घूम आते हैं। अम्माँ, दादा तो सारे दिन खेत में काम करते हैं, फिर भी गरीब हैं!

'वे मील के मैनेजर हैं। महीने में पाँच सौ तनख़ाह पाते हैं।'

'कितने होते हैं पाँच सौ, अम्मा?'

'बहुत होते हैं बेटी!'

'इतने सारे, ढेर-भर?'

'हाँ, ढेर-भर।'

'और दादा रोज मील पर ईख जो बेच आते हैं?'

'सारी ही कमाई तो कर्ज़े में चली जाती है।...मगर तुझे क्या चिन्ता, तेरे भाग से फिर हो रहेगा।'

सुधा का मन फिर मुरझा-सा गया। वह ख़ामोशी से सर नीचा किये रोटी खाती रही। माता सोचने लगी—यह सब सुरी से कहना उचित नहीं हुआ, लेकिन यह दुखिया भी इस कंगाली के प्रभाव से मुक्त कैसे रह सकती है! एक आह भरकर वह भी स्तब्ध बैठी रह गई।

अम्माँ से उस दिन रोटी भी न खाई गई। उसे अपनी असमर्थता पर रोना आने लगा—वह अपनी एकमात्र कन्या की छोटी-सी चाहना भी पूरी नहीं कर सकती। कितनी देर तक वह बड़े-बड़े आँसू गिराती रही।

(२)

ग़रीब किसान दिन-भर कठिन परिश्रम के उपरांत हारा-थका घर आता है। उस समय शरीर और मन सभी ओर से हारा होता है।

शक्ति से अधिक परिश्रम शरीर को पीस देता है और तीन प्राणियों के पेट की अग्नि को शान्त करने की दाहकारी चिंता मन पर सारे दिन आघात करती रहती है। घर में दरिद्रता का साम्राज्य होने पर भी सुरी और सुरी की अम्माँ का सरल स्नेह कुछ देर को उसे चिंताओं से मुक्त कर देता है। दोनो का मुँह देखकर ही उसकी सारी थकान दूर हो जाती है। उसमें प्रफुल्लता, साहस का संचार हो आता है।

आज घर का वातावरण विपरीत था। बेचारे का हृदय धक्-से हो गया। वह क्षण-भर स्तब्ध खड़ा रहा, फिर साहस करके पूछा—क्या सुरी सो गई ?

'हाँ, सो गई। आज नौचन्दी देखने को बहुत ही रोई है।'—फिर एक दीर्घ श्वास के साथ आलस्य की-सी गति में उठी, लोटे में पानी लाई—हाथ धो लो।

मुँह-हाथ धोकर वह थाली पर बैठ तो गया, किन्तु रोटी खाने का व्यर्थ ही प्रयास करता रहा।

सुरी की अम्माँ ने मानो अपनी भूल सुधारने की चेष्टा में कहा—उदास क्यों हो गये, जहाँ इतना कर्ज़ सर पर चढ़ा है, रुपया-धेली किसी से और माँग लो। पर की नौचन्दी से सुरी मेला देखने को रट लगाये है। इस बार नौचन्दी न देख सकी तो उसका जी टूट जायगा।

'गाँव में कर्ज़ कौन देगा ? सभी का तो देनदार हूँ। न हो तो फिर कल खेत का काम तुम सँभाल लेना, मिल में मद्ध लगी है, मैं मजूरी कर आऊँगा।'—और हृदय बेधनेवाली आह छोड़कर वह थाली से उठ गया।

सुरी सोई नहीं थी, किन्तु पिता के आने पर आज उसमें उत्साह उत्पन्न नहीं हुआ, उठा भी नहीं गया। नींद के बहाने वह लेटी ही

रही। उसका बाल-हृदय सुधा की गुड़िया पर बेतरह रीझ गया था। किसी प्रकार भी हो, उसे वैसी गुड़िया चाहिये। साथ ही वह नन्हा-सा हृदय अपनी भी कुछ सामर्थ्य अनुभव करता था।

कितनी देर तक वह अपनी सामर्थ्य ही की बात सोचती रही, माता-पिता की वह किस प्रकार सहायिका बन सकती है, और सोचते-सोचते सो गई।

(३)

सबेरे सुरी बहुत प्रसन्न थी, उसने उछल-कूदकर, अपनी हँसी से सींचकर माता-पिता का मन भी हरा कर दिया। मानो नौचन्दी की बात वह बिल्कुल भूल ही गई, उसने हाथ-मुँह धोया, अम्माँ से माँगकर बासी रोटी खाई और आज सबेरे-ही-सबेरे अम्माँ से बाल बँधवाने का प्रस्ताव हुआ। यथाशक्ति अपने साज-शृंगार में कोई त्रुटि नहीं रखी। वह आज साफ़-सुथरी दीखना चाहती है। फिर बोली—दादा, मैं भी मील पर चलती हूँ।

पिता हँस दिया—चल सुरी, कल सुधा रानी तुझे पूछ भी रही थी।

सुरी पिता की उँगली पकड़कर चल दी—अम्माँ, आज सारे दिन मैं सुधा ही के साथ खेलूँगी। मेरी बाट न देखना।

× × ×

सुरी ने द्वार पर से ही पुकारा--सुधा, सुधा! सुधा नाश्ता कर रही थी। आज सबेरे ही उसकी सहेली सुरिया आ पहुँची! ख़ुशी से उसका मन भर गया। वह खाना छोड़कर भागने को हुई।

किंतु माता ने डाँट बताई—खाना छोड़कर कहाँ चली?

'अम्माँ, सुरिया आई है।'

'तो सुरिया कहीं भाग न जायगी। खाना खाकर खेलना। ओ सुरिया, अन्दर आ जा न।'

सुरिया द्वार ही पर खड़ी रही। घर के भीतर पैर रखते आज उसका जी बहुत संकुचित हो रहा था। सुधा ने बुलाया, सुधा की अम्माँ ने पुकारा, मीठी झिड़की भी दी; किन्तु सुरिया बाहर ही खड़ी रही। ख़ामोश खड़ा रहना भी उसे असह्य था। प्रतीक्षा की घड़ियाँ दुश्वार ज़र रही थीं—रहा न गया। उसने फिर पुकारा—सुधा !

सुधा बाहर आ गई, किन्तु आज सुरी ने गुड़िया खेलने की बात नहीं छेड़ी। वह कुछ लजा रही थी। आँखें नीचे झुकी जाती थीं। सुधा बोली—अन्दर चल, कल मैं नौचन्दी से बहुत से खिलौने लाई हूँ—चल, तुझे दिखाऊँ।

सुरिया बोली—पहले एक बात सुनो। और ठेलती हुई सुधा को एकांत में ले गई, किन्तु बात होठों से बाहर आने में संकोच कर रही थी।

उत्सुकता से सुधा ने पूछा—अरे, जल्दी कह ना, क्या बात है ?

सुरिया ने अपने नन्हे-से हृदय का संपूर्ण साहस समाप्त करके जल्दी-जल्दी कह ही डाला—सुधा, तुम्हारी अम्माँ ने कहा था, भैया को खिलाने के लिए किसी लौंडिया को बुला ला, चार पैसे रोज़ दूँगी। उनसे कहो, मुझे ही रख लें। मैं तुम्हारा भैया खिलाऊँगी।

सुरिया की बात पूरी होते-न-होते सुधा ख़ुशी से फूल उठी—यह तो बड़ी अच्छी बात है, मैं और तू दिन-भर साथ-साथ खेलेंगे।—और वह भागी—अम्माँ-अम्माँ ! सुरिया को भैया खिलाने को रख लो, वह तैयार है। रख लो अम्माँ !

अम्माँ बोली—अच्छी बात है, वह रहना चाहती है तो रहे—अरी, अंदर तो आ सुरिया !

सुरिया कहने को तो सुधा से कह गई ; किंतु अब उसके होंठ काँपने लगे, मुँह लाल हो गया, आँखें भीग गईं। कितनी शर्म लग रही थी—उसने कैसे कह दिया ! और सुधा की अम्माँ बराबर उसे अपने पास बुला रही थीं। किन्तु उसके पैर जैसे जम गये थे, दिल धड़-धड़ कर रहा था। और वह किवाड़ की ओट में स्तब्ध खड़ी थी।

सुधा की अम्माँ से बालिका के भाव छिपे न रहे। वे स्वयं ही गईं—अरी सुरिया, आज क्या नई आई है ? शर्माती क्यों है ? यह तो तेरा ही घर है। सुधा के साथ खेला करना।

सुरी की आँखें अब संयम न रख सकीं—वह रोने लगी। और आँसुओं के साथ ही उसकी शर्म जैसे बहुत कुछ बह गई। वह अंदर चली गई और थोड़ी देर में सब कुछ भूल गई। भैया को लेकर बाहर सुधा के साथ खेलने भी चली गई।

(४)

सुरिया के कोई भाई-बहन नहीं था। इतनी देर तक उसने किसी बच्चे को कभी काहे को गोद में लेकर घुमाया था ! सारे दिन भैया को लिए-लिए उसकी बाँहें दुख गईं—इस छोटे-से जीवन में आज पहली बार उसने अपने पर इतना ज़ब्र किया था। कई बार उसका मन बहुत ही खिन्न हो उठा, किंतु शाम को छुट्टी के साथ चार पैसे देखकर वह सारी थकान भूल गई !

उसने कुछ लजाते हुए कहा—बहूजी, कल तो न आ सकूँगी, दादा के साथ नौचंदी देखने जाऊँगी।

'अच्छा, मेला देखने जायगी ?'—दयालु स्वभाव की बहूजी ने

उसके हाथ पर मेला देखने को चार पैसे और रख दिये। सुरिया की प्रसन्नता की सीमा न रही—मानो कहीं का ख़ज़ाना मिल गया हो ! उछलती-कूदती घर पहुँची—अम्मा, मैं कहे देती हूँ, सबेरे नौचंदी ज़रूर जाऊँगी। ले, चार और चार पूरे आठ पैसे हैं। ये मेरे हैं, मैं गुड़िया लाऊँगी।

चकित होकर अम्मा ने कहा—ये कहाँ से लाई ? किसी के उठा तो नहीं लाई ?

'उठा क्यों लाती ? मैंने सुधा के घर नौकरी जो कर ली है और चार पैसे बहूजी ने मेला देखने को दिये हैं। झूठ मानो तो तुम्हीं चल-कर पूछ लो न।'

माता के हृदय में चोट पहुँची—हाय ! वह कैसी अनाथ है ! गुलाब-जैसी उसकी सुरी नौकरी करेगी ? किंतु फिर भी उसने सुरी के उत्साह में सहयोग दिया—अच्छा किया ; कैसी चतुर है मेरी सुरी, थक गई होगी !

हर्ष से सुरिया की आँखें चमकने लगीं—बिल्कुल भी नहीं थकी। अम्माँ, कुछ काम थोड़े ही है, बस, भय्या को खिलाती रही और मैं भी सुधा से खेलती रही। बहूजी मुझे बहुत प्यार करती हैं।

उसी समय दादा भी आकर उसके हर्ष में सम्मिलित हो गया। प्रातः नौचन्दी चलने का निश्चय रहा।

नौचन्दी के साज-सामान देखकर सुरिया की आँखें चौंधिया गईं—साल-भर तक बराबर उसने नौचंदी के आगमन की प्रतीक्षा की थी और अपनी बुद्धि के अनुसार मेले के संबंध में अनेक कल्पनाएँ भी बाँधी थीं ; किंतु उसकी कल्पनाएँ तो नौचंदी के अंश तक भी नहीं पहुँची थीं। यहाँ तो उसे प्रत्येक वस्तु अद्भुत-अनुपम अपने संसार से

परे की जान पड़ती थी ! आँखों में चकाचौंध हो रही थी और उस छोटे से हृदय में खुशी समाती नहीं थी !—देख अम्माँ, कैसा अच्छा मेला है ! तू आती ही नहीं थी, फिर यह सब कैसे देखती ?

बेचारी अम्माँ अपने फटे हाल पर मेले में आते लजा रही थी, किंतु सुरिया किसी प्रकार मानी ही नहीं तो वह चली आई । सुरी का मन रखने को उसे सब स्वीकार था ।

सुरी के दादा को भी किसी दूकान पर खड़े होते शर्म-ग्लानि उत्पन्न हो रही थी—इस हाल पर कोई फ़कीर समझकर दुत्कार न दे ? किंतु सुरिया उसके मन की बात क्या जाने ? उसे गुड़िया ख़रीदने की धुन लगी हुई थी । आख़िर बालिका ही तो है—इतने आदमी हैं, दूकानों पर कैसी भीड़ लगी है, कहीं सारी गुड़ियाँ बिक न जायँ ?

एक बड़ी-सी खिलौनों की दूकान देख कर वह स्वयं उस ओर बढ़ गई—बस दादा, इसी दूकान से मैं गुड़िया लूँगी। लज्जा से सिमटे हुए अम्माँ-दादा भी चुपके से एक ओर खड़े हो गये । सुरी ने ही साहस किया—ओ दूकानवाले, आखें खुलने बंद होनेवाली गुड़िया दिखाओ ।

लापरवाही से दूकानदार ने एक गुड़िया उस ओर बढ़ा दी । सुरी चहक उठी—हाँ-हाँ, यही है । अम्माँ, सुधा की गुड़िया ऐसी ही है । और जल्दी से फटे कुरते की जेब से चार पैसे निकालकर उसने दूकान-दार के सामने फेंक दिए और गुड़िया लेकर वह चलने को हुई । इससे अधिक उसे कुछ चाहिए भी तो नहीं। दूकान पर रंग-बिरंगे अनेक प्रकार के खिलौनों के ढेर लगे हैं, सुरी ने किसी पर दृष्टि भी नहीं डाली । उसका मन उछल रहा था । जल्दी से वह गुड़िया उसकी हो जाय । जैसे दूकान से दूर जाकर ही गुड़िया पर उसका अधिकार होगा ।

दूकानदार ने विस्मय से देखा और हँसकर बोला—कहाँ चली लड़की, चार पैसे की वह गुड़िया नहीं आती। रख दे।

उस अबोध हृदय ने भी अनुभव किया—दूकानदार को हँसी में निरादर है, अपमान है। वह खिसिया गई, किंतु गुड़िया उसने नहीं छोड़ी। उसने जेब में हाथ डाला—अभी उसके पास चार पैसे की सम्पत्ति शेष थी—तो कितने की है?

दूकानदार व्यर्थ समय नष्ट करना नहीं चाहता था। बोला—भाग जा, तू इसे नहीं ले सकेगी। इसका दाम डेढ़ रुपया है।

सुरी के हाथ में मानो किसी ने बिजली का तार छुआ दिया हो, जल्दी से उसने गुड़िया छोड़ दी। कोमल हृदय वेदना से तिल-मिला उठा।

घायल स्वाभिमान लिए उसने निश्चेष्ट माता-पिता का हाथ पकड़ा और चल दी।

पतन

मानव-हृदय को स्वच्छ बनाने योग्य सभी गुण सुधीर में मौजूद हैं। उसके स्वभाव में कोमलता है, सहन-शीलता है, सहानुभूति है। और सन्तोष उसकी सबसे बड़ी विभूति है। वह प्रत्येक दशा में मगन रहता है।

वह सदाचारी है, संयमी है और त्यागी है। परोपकार उसके जीवन का उद्देश्य है—यथाशक्ति दूसरों को प्रसन्न करना—सेवा करना, यही उसका ध्येय है। इन्हीं गुणों द्वारा सुधीर ने लोगों को अपने पर मुग्ध कर रखा है। सभी के हृदय में उसके लिए स्थान है, श्रद्धा है, सहानुभूति है। ग़रीब होकर भी वह विख्यात है, यही सुधीर की विशेषता और गौरव का प्रमाण है।

सुधीर की जीविका का साधन पुस्तकों की एक छोटी-सी दूकान है, किन्तु उसकी मनोवृत्ति दूकानदारी की ओर नहीं है, उसकी दिन-चर्या तो दिन-भर दूकान पर बैठे-बैठे पुस्तकें पढ़ना और कविता लिखना है। विद्यार्थी आते हैं—सुधीर बाबू, कापी चाहिये। सुधीर पुस्तक से दृष्टि हटाये बिना ही कह देता है—भय्या ले लो। विद्यार्थी कैश बॉक्स में पैसे डालते हैं और कापी लेकर चले जाते हैं।

सुधीर को हिसाब-किताब करने की आवश्यकता नहीं होती, क़र्ज़दार न रहने के सिवा और उसे कोई अभिलाषा नहीं है। उसकी धारणा तो है—मैं बेईमानी न करूँगा तो मुझे भी कोई धोका क्यों देगा। वह सब पर हृदय से विश्वास रखता है और स्वयं भी लोगों का विश्वासपात्र है।

सुधीर की आय अधिक नहीं है तो ख़र्च भी कुछ नहीं है। उसका परिवार छोटा और उसी का अनुकरण करनेवाला है। सुधीर ही की भाँति उसक स्त्री कुसुम भी सादगी-प्रिय है। स्त्री-पुरुष दोनो ही फ़ैशनेबुल-जगत से बहुत दूर हैं, इसी लिए उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़ी-चढ़ी नहीं हैं। वे इस छोटी दूकान और थोड़ी आय ही में सन्तुष्ट हैं। उनके जीवन में रस है, माधुर्य है और आनन्द है। रुपए का अभाव वे अपने प्रेम में भुलाये रखते हैं। उनके दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहे हैं।

(२)

सुधीर कवि है, कुसुम कविता-प्रेमिणी और अनन्य पतिभक्ता। सुधीर उसे जिस ओर चलाना चाहता है वह उसी ओर चलती है और उसी की इच्छाओं में सन्तुष्ट रहती है। पति की प्रसन्नता ही में प्रसन्न और मगन रहती है।

घर के कामों से अवकाश पाकर कुसुम आह्लाद भरे हृदय से प्रतीक्षा करती है—आयें तो पूछूँ, आज कोई और कविता लिखी है ?

यदि नवीन कविता का निर्माण होता है तो उन दोनो के हृदय में आनन्द का एक नवीन स्रोत उमड़ पड़ता है। द्वार ही से सुधीर कहता है—कुसुम, आज एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी है।

कुसुम के गुलाबी अधरों पर हँसी नाच उठती है। हृदय का कण-कण हर्षामृत में डूब जाता है। वह उत्साह-युक्त स्वर से पूछती है—सच कहते हो, क्या पूरी भी कर ली ?

'हाँ, नहीं तो क्या अधूरी है !'

'अच्छा, तो फिर सुनाओ।'

'सुनाऊँगा पीछे, पहिले खाना तो दो।'

कुसुम कहती—नहीं, कुछ पंक्तियाँ पहले सुना दो तब खाना परोसूँगी।

इस प्रकार कभी सुधीर की जीत होती है, कभी कुसुम की ; किन्तु आनन्द दोनो को समान ही होता है। कुसुम सोचती है, मैं कितनी सौभाग्य-शालिनी हूँ। हमारे पास पैसा न सही, सुख तो है। मेरे पति की दिन भर की कमाई यह कविता जो बहुत थोड़े पैसे लाएगी, मुझे कितना सुख देती है। क्या वे रुपयों से जेब भर कर घर आयें तो मैं इसी प्रकार प्रसन्न हो सकूँगी ? शायद नहीं।

(३)

सुधीर की दूकान के समीप ही हाई-स्कूल खुलने की आयोजना हुई। लोगों ने कहा—सुधीर, अब तुम्हारी आय दूनी हो जायगी।

सुधीर को भी एक प्रकार के आनन्द का-सा अनुभव हुआ। वह

इस विचार को हृदय से दूर न कर सका। कल्पना-शक्ति बड़े वेग से मार्ग तय करने लगी। आय कुछ बढ़ गई तो साहित्य की सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें लाऊँगा। कुसुम पढ़कर प्रसन्न होगी, पढ़ने की बड़ी शौक़ीन है। अन्य स्त्रियों की भाँति उसे ज़ेवर-कपड़े की चाह नहीं है। उसे पुस्तकों से प्रेम है, किन्तु मैं उसकी यह छोटी-सी चाहना भी तो पूर्ण नहीं कर पाता हूँ। शायद अब कर सकूँ।

धीरे-धीरे एक पुस्तकालय बन जायगा, दूसरे लोग भी उससे लाभ उठायेंगे।

आज तक सुधीर ने परोपकार में अपनी शरीरिक शक्ति ही को ख़र्च करने की बात सोची थी। किन्तु उपार्जन की आशा में आज उसने पैसे के द्वारा भी सेवा करने का साधन ढूँढ़ना प्रारम्भ किया।

मानव-हृदय को अपने रूप के मोहरूपी जाल में मुक्त न करनेवाली श्रीमती लक्ष्मी सुन्दरी ने सोचा—इससे सुन्दर अवसर और कौन आवेगा? सेवा भाव की ओट में छिपकर सुधीर पर आक्रमण करना चाहिये। जहाँ चारो ओर लक्ष्मी ही की तूती बोल रही है, उन्हीं की पूजा हो रही है, सभी उनके उपासक हैं, भक्त हैं, सुधीर उस वायु-मण्डल से सर्वदा विलग रहे, लक्ष्मी माता अपनी यह उपेक्षा कैसे सहन कर सकती हैं? वे दल-बल सहित घोर संग्राम करने को तैयार हो गईं।

इस बार वे सुधीर के हृदय में अपनी आकाँक्षा फूँककर ही रहेंगी—उसे अपना उपासक बनाकर ही छोड़ेंगी और यदि सुधीर उनका पूरा भक्त बन गया तो सम्भव है, उस पर वे अपनी कृपा भी कर दें। कम से कम एक बार वे अपने रूप का जादू चलाकर उसे पराजित अवश्य करेंगी। इसी धारणानुसार धीरे-धीरे लक्ष्मी रानी ने अपना मोहनी मन्त्र सुधीर पर चलाना प्रारम्भ किया।

पुस्तकालय के साथ ही सुधीर के पास कुछ धन संग्रह हो गया तो वह एक मासिक पत्रिका भी निकालेगा। इस छोटे स्थान में पत्रिका का निकलना एक अनोखी बात होगी। पुस्तकालय की ओर से कभी-कभी कवि-सम्मेलन आदि उत्सव भी होंगे। इस छोटे स्थान में जान आ जायगी।

इस कल्पना के साथ ही एक विचार और भी गूँज गया—फिर तो लोगों पर मेरा बहुत ही प्रभाव हो जायगा। मैं यहाँ का नेता बन जाऊँगा। 'उँह' के साथ सुधीर ने इस विचार की उपेक्षा की, किन्तु वह भागा नहीं, बल्कि दृढ़तापूर्वक हृदय के किसी कोने में छिप गया और मौक़े की प्रतीक्षा करने लगा। सुधीर के होठों पर एक बार हलकी मुस्कराहट आ ही गई।

स्कूल खुलने में अब कुछ देर नहीं है, 'स्टॉक' बढ़ाना चाहिये। खूब बिक्री होगी। कितने ही लड़के जो यहाँ हाई-स्कूल न होने के कारण अन्य स्थानों में पढ़ने जाते थे, अब यहाँ ही पढ़ेंगे। कापी, क़लम, पेन्सिल, सभी कुछ तो उन्हें चाहिये।

(४)

पुस्तकें लेकर सुधीर प्रयाग से लौटा, स्टेशन पर उसने इक्का किया, पुस्तकों का बण्डल रखा और बैठ गया। इक्केवाला कहरवा राग गुनगुनाने लगा, सुधीर अपनी दूकान की बात सोचने लगा—दूकान बहुत छोटी है, हो सका तो इसी महीने में सामनेवाली दूकान ले लूँगा। किराया कुछ अधिक देना होगा; किन्तु वह बड़ी भी तो है और अच्छी हालत में है।

सुधीर की दूकान रास्ते ही में थी। उसने इक्के पर से दृष्टि गड़ाकर

देखा दोनों दूकानों में कितना अन्तर है। चाँदनी रात में साफ़ दिखलाई दिया—वह सामनेवाली बड़ी दूकान जो बहुत दिनों से खाली ही पड़ी रहती थी और जिसे आबाद करने की बात सुधीर सोच रहा था, उसी दूकान पर एक काला-काला बड़ा-सा साइनबोर्ड लगा है और श्वेत अक्षरों में लिखा है—केशव बुक-डिपो। बोर्ड के अक्षरों में न सूर्य की किरणें छिपी थीं न बिजली ही कौंध रही थी, एलेक्ट्रिक लाइट भी नहीं थी, फिर भी सुधीर की आँखें एक प्रकार चकाचौंध से चुँधिया गईं।

उसका हृदय धड़-धड़ करने लगा। बोर्ड के वे अक्षर उसे इतने विशाल जान पड़े मानो वह उसे निगलने को पीछे दौड़े चले आ रहे हैं। भयभीत मन से वह कई बार दोहरा गया—केशव बुक डिपो...

'बाबू जी, क्या सो गये ?'—इक्केवाले ने उसकी स्तब्धता भङ्ग की। चौंककर सुधीर ने देखा, इक्का घर के द्वार पर खड़ा है और कुसुम दरवाजे के सहारे खड़ी उसके उतरने की प्रतीक्षा कर रही है शायद इक्के की आवाज़ सुनकर वह दौड़ आई है।

घर आकर राह में बनाये प्रोग्राम के अनुसार सुधीर कुसुम को पुस्तकें भेंट करना भूल गया और अपने स्वभावानुसार—कुसुम अच्छी तो हो ! यह भी पूछना भूल गया।

उसने पूछा—तुम्हें कुछ मालूम है—केशव ने पुस्तकों की दूकान खोली है ?

'मैंने तो नहीं सुना, क्यों ?'—उसने आश्चर्ययुक्त स्वर से पूछा।

सुधीर बिना उत्तर दिये ही उदास मुख से चारपाई पर बैठ गया। उसके कल्पना-संसार में प्रलय हो गई, सारा उत्साह नष्ट हो गया।

(५)

सुधीर परिवर्तन के जाल में फँस गया। उसकी दुनिया ही दूसरी हो गई। सुख, शान्ति, सन्तोष, सब कुछ विलीन हो गया ; सुधीर, पहलेवाला सुधीर न रह गया।

कविता के भाव ईर्षा में परिणत हो गये। साहित्य-प्रेम की उमङ्ग, सेवा-व्रत की लालसा सब किसी दूसरे रूप में तबदील हो गये। शान्ति के स्थान पर हृदय में भयङ्कर अग्नि प्रज्वलित हो गई। स्वभाव की वह सरलता दूकानदारी का कम्पिटीशन मात्र रह गया। कैसा भारी परिवर्तन हुआ था उसमें।

दूकान से मैली दरी उठ गई ; मेज़-कुर्सी का आडम्बर हुआ। इस साज-बाज के साथ ही सुधीर की वेशभूषा में भी हेर-फेर हो गया, इसी कारण उसे अपने मत के विरुद्ध क़र्ज़दार भी बनना पड़ा।

सुधीर अपने ग्राहकों के साथ पूर्व की अपेक्षा अधिक नम्रता का व्यवहार करता है। पान, सिगरेट से लोगों की ख़ातिर भी करता है ; किन्तु न जाने क्या कारण है कि अब लोग उससे पहले की भाँति प्रसन्न नहीं हैं। सुधीर के प्रति बिना कारण ही लोगों के हृदय से श्रद्धा-विश्वास लोप हो गया है। विश्वनिन्दक ही नहीं, सुधीर के प्रशंसक भी अब उसकी प्रशंसा नहीं करते। मानो उन लोगों को सुधीर में अब कोई प्रशंसा-योग्य गुण ही नहीं जान पड़ता। जैसे यह कोई दूसरा ही सुधीर हो।

सुधीर चक्कर में है, वह नहीं समझ सकता कि सारा वायुमण्डल उसके विपरीत क्यों हो गया ? वह क्या करे ? अपनी कीर्ति क़ायम रखने के लिए वह कोई बात उठा नहीं रखता। सार्वजनिक कार्यों में वह बड़े मनोयोग से, बड़े उत्साह से भाग लेता है। चाहे कोई

सामाजिक उत्सव हो, चाहे राजनैतिक और चाहे धार्मिक ; सुधीर सबका अगुआ बनकर आगे होता है, परिश्रम भी कम नहीं करता, फिर भी अब कोई उसके इन कार्यों को आदर की दृष्टि से नहीं देखता। प्रशंसा के स्थान पर लोग अब उसकी हँसी उड़ाते हैं, कोई-कोई तो उसे स्वार्थी कह देते हैं।

यह बातें नमक-मिर्च की मिलावट के साथ सुधीर के कानों तक पहुँच जाती हैं। सुनकर उसे कितनी व्यथा होती है, इसका अनुमान कौन कर सकता है? सदैव से अपनी प्रशंसा का अभ्यस्त सुधीर अब एक भारी अभाव का अनुभव करता है। बेचारे को किसी प्रकार भी शान्ति नहीं है। दूकान पर बैठता है तो उसकी आँखें अपने प्रतिद्वन्दी की दूकान की चहल-पहल से जलने लगती हैं। केशव के ग्राहकों का उसकी दूकान की ओर देखते हुए निकलना सुधीर के हृदय पर वज्र-पात कर देता है। न मालूम क्यों उसका हृदय दर्द करने लगता है। वह एक अज्ञात पीड़ा से तिलमिला उठता है। देखनेवालों की आँखों में उसे उपेक्षा, अपमान, व्यङ्ग, न जाने क्या-क्या दिखाई देता है। उसके हृदय में प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो जाती है ; वह क्रोध से पागल-सदृश बन जाता है। अनायास ही उसके मुख से देखनेवालों के लिए कठोर शब्द निकल जाते हैं—दुष्ट निष्ठुर...

सुधीर तुरन्त ही सावधान होने की चेष्टा करता है। अपने इस क्रोध पर उसे ग्लानि होती है, लज्जा आती है, पश्चात्ताप होता है। वह निश्चय कर लेता है—अब कभी ऐसी भूल न करेगा, परन्तु वैसी ही भूल फिर होती है, अनेक बार होती है।

इस अन्तर्द्वन्द ने सुधीर को और भी पीड़ित कर रखा है। इस भारी वेदना के भार से उसका हृदय फटा जाता है। बेचारे को कहीं

भी शान्ति नहीं है—न घर के अन्दर, न घर के बाहर। स्त्री के शरीर पर साबित धोती नहीं है, बच्चे को दूध पिलाने के लिए पैसे नहीं हैं, क़र्ज़ेवाला सुबह-शाम तक़ाज़ा करता है। और कैश-बॉक्स ख़ाली पड़ा है। केशव की शानदार दूकान के सम्मुख कोई उसके यहाँ झाँकता ही नहीं। दोनो स्त्री-पुरुष रात-दिन इसी चिन्ता में घुलते हैं, फिर वह रँगरेलियों की बातें कहाँ से हों? हँसी, माधुर्य, आनन्द तो मानों उनके जीवन से सदैव को विलीन हो गया।

सुधीर कुसुम के मुख पर पहली-सी हँसी देखने को तरसता है। कुसुम भी पति को प्रसन्न करने की चेष्टा में कुछ उठा नहीं रखती, फिर भी अपनी हँसी की शुष्कता वह छिपा नहीं पाती। पति के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ अङ्कित देखकर चेष्टा करने पर भी वह सरस हँसी नहीं हँस पाती।

वे दोनो ही निश्चय करते हैं कि आज सब कुछ भूलकर थोड़ी देर को अवश्य हँसेंगे, कुछ तो हृदय को सान्त्वना मिलेगी? किन्तु वह निष्ठुर नीरसता न जाने किस ओर से आकर उनका सारा प्रोग्राम बिगाड़ देती है। किसी प्रकार भी पुराने दिन लौटते नहीं।

भगवान ही सुधीर से विमुख हैं। नहीं तो क्या उसकी सहृदयता का यही परिणाम होना चाहिये था? कुछ नहीं, सब कुछ व्यर्थ है, संसार में चालाकी ही से कार्य सिद्ध होता है।

सद्वृत्तियो! सावधान! सुधीर तुम से बदला लेगा, तुम्हें पराजित करके रहेगा, वह तुम्हारा अन्त कर देगा, तुम्हारा चिह्न भी हृदय में शेष न रहने देगा। तुम्हें हृदय में स्थान देकर वह करेगा भी क्या? तुम्हारी सेवा का, उपासना का, तुम्हारी आराधना का क्या यही प्रसाद है? यही परिणाम है? तुम्हारा यह वरदान सुधीर को न चाहिये। आज

से सुधीर तुम्हारा सेवक नहीं, तुम्हारा साधक नहीं, वह तुम्हारा शत्रु है।

आज सुधीर समझ सका है—मानव-जीवन को उन्नत करनेवाली शक्ति और संसार को चलानेवाली शक्ति, तुम्हारे बल पर टिक ही नहीं सकती। ओह ! अपनी जिन वृत्तियों को उसने जबरन दबाया है, ठुकराया है, चेतावनी देने पर भी सुधीर ने जिनकी उपेक्षा की है वही, वही वृत्तियाँ सुधीर के काम की वस्तुएँ हैं। वही सुधीर के सारे कष्टों का अन्त कर सकती हैं। वही सुधीर के लिए दुःखनाशक बूटियाँ हैं। सुधीर उन्हें अपने हृदय की रानी बनायेगा, उनका अभिषेक करेगा, और तुम्हें अपने हृदय के किसी कोने में भी ठहरने न देगा।

सुधीर तुम्हें पूर्णतः जान चुका है, ख़ूब पहचान चुका है। अब तक उसने तुम्हारा सम्मान किया है। तुम्हें उच्चता की पदवी प्रदान की थी, तुम्हें अपनाकर वह अपने को भी उच्च समझ बैठा था, अपनी उन्नति कर रहा था। हाँ, यह उसकी भारी भूल थी, अब वह ऐसी भूल नहीं करेगा। पाखण्डी, धोखेबाज़ के सिवा वह तुम्हें किसी अन्य पदवी से भूषित न करेगा।

तुम छलनेवाली हो। अवनति, अशान्ति, अभिसन्धि—बस तुम इतने ही में व्यापक हो। सुधीर तुम्हारे लोक का मनुष्य नहीं है, वह सांसारिक मनुष्य है, गृहस्थ है, बाल-बच्चेवाला है। तुम्हारे इस मङ्गल-प्रसाद से उसका कार्य चलना असम्भव है। वह तुम्हारा ऐसा अनन्य भक्त नहीं, जो बच्चों को भूख से तड़पता देखकर, स्त्री को शीत से ठिठुरते देखकर और स्वयं चिन्ता की दग्धकारी लपटों में जलते हुए भी तुम्हारा स्वागत करे। नहीं-नहीं ! देवियो, सुधीर अब दूर ही से तुम्हें प्रणाम करता है।

तुम्हारे सम्मुख उसने लक्ष्मी का निरादर किया है। अब सुधीर उस भूल का प्रायश्चित्त करेगा। वह अब अपनी प्रेम की प्रतिमा कुसुम को सुखी बनायेगा। उस अनेक कष्ट झेलनेवाली दुखिया को वह एक बार प्रसन्न देखना चाहता है।

इस अभिलाषा-पूर्ति के लिए सुधीर बहुत शीघ्रता करेगा। आज ही रात को वह कुसुम को सोती छोड़कर मन्त्र-सिद्ध करने चला जायगा और फिर उसकी कुसुम के सारे क्लेश दूर हो जायँगे।

(७)

उस मन्त्र जगानेवाली अँधेरी रजनी का ह्रास हुआ और मन्त्र का फल प्रकट करनेवाली उषा सुन्दरी का विकास हुआ। सुधीर इस परिवर्तन से अपनी तुलना करता हुआ घर से निकला। दूर ही से उसने देखा, केशव की दूकान के सामने भीड़ लगी है।

अन्य लोगों की भाँति सुधीर के लिए तो यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। फिर क्यों उसे अपने पैरों में मनों का बोझ मालूम होने लगा? पैर आगे बढ़ते ही नहीं हैं, शरीर में कँपकँपी-सी जान पड़ती है, सर में चक्कर-सा आ रहा है।

सुधीर ने अपने को सँभालने की चेष्टा की, वह तम्बोली की दूकान के नीचे टूटी कुर्सी पर बैठ गया।

तम्बोली भी शायद उसी भीड़ में सम्मिलित है? सुधीर को भी वहाँ जाना चाहिये, और केशव को सांत्वना भी देना चाहिये। ऐसा प्रोग्राम पहले ही से निश्चित था, किन्तु वह साहस अब खोया-सा जा रहा है। रोकने पर भी वह शक्ति भागी जा रही है।

सुधीर ने दोनों मुट्ठियाँ कसकर बाँध लीं। वह अपने को दृढ़ करना

चाहता है, बिखरी हुई शक्ति को बटोरना चाहता है। अभी उसकी यह दशा किसी ने देखी नहीं। शीघ्रता करनी चाहिये।

उसी समय विद्यार्थियों के एक दल ने सुधीर को घेरकर प्रश्नों की झड़ी लगा दी—सुधीर बाबू, कैसी तबियत है? यहाँ क्यों बैठे हो? क्या आपने नहीं सुना, केशव बाबू की दूकान में आग लग गई? हम लोग कल पुस्तकें नहीं ले सके, दूकान पर बड़ी भीड़ थी। केशव बाबू ने कहा था, सुबह ले लेना; परन्तु उन बेचारों का सारा सामान जल गया। क्या आपके यहाँ हमारे कोर्स की पुस्तकें हैं?

सुधीर ने गर्दन हिला दी—हाँ।

'तो जल्दी चल कर दूकान खोलिये, आज आप हो कैसे रहे हैं?'

धीरे-धीरे सुधीर ने गर्दन उठाकर देखा—कितने ही विद्यार्थी पुस्तकों की प्रतीक्षा में हैं। लक्ष्मी स्वयं ही उसका आवाहन कर रही है, उसे इस प्रकार शिथिल होना उचित नहीं। वह कायरता को पराजित करने का बीड़ा उठा चुका है। सावधान होना चाहिये, तत्परता से काम लेना चाहिये।

× × ×

सुधीर को पूर्णतः अपने शिकंजे में फाँसकर भी परिवर्तन सन्तुष्ट नहीं था। १९३४ की १५ जनवरी को वह मानो पुकार-पुकारकर कह रहा था—मेरी अपार शक्ति देखना है तो देखो, सारे संसार पर मेरा अधिकार है। केवल बिहार-प्रान्त ही नहीं, चाहूँ तो इसी प्रकार क्षण में सारे संसार को अपने चक्र में डाल दूँ। यह तो मेरी शक्ति का एक छोटा नमूना मात्र है।

चारो ओर हाहाकार मच रहा था। जो कल सम्पत्ति-शाली थे,

वे आज राह के भिखारी बन गये थे। गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के स्थान पर टूटे खण्डहर शेष थे। सभी एक दुःख से दुःखी, एक कष्ट से पीड़ित थे। अमीर-ग़रीब का सवाल मानो मिट गया था। सभी फूस की झोंपड़ियों में पड़े अन्न-जल के लिए तरस रहे थे, मानो प्रकृति ऊँच-नीच के भेद-भाव को दूर करने की शिक्षा दे रही हो।

सुधीर और केशव कुछ ही अन्तर पर बैठे विचार-धारा में निमग्न थे। केशव सोच रहा था, मेरे भाग्य पर एक सप्ताह पूर्व ही भूकम्प आ गया; दूकान आग लगने से नष्ट न होती तो आज समाप्त हो जाती। मुझे शान्त होना चाहिये; आज मैं अपनी दशा पर अकेला रोनेवाला नहीं हूँ, सभी मेरी-सी ही स्थिति में हैं।

सुधीर के हृदय में अशान्ति की आँधी बह रही थी। इस दूकान के लिए जो न करना चाहिये था वही किया...किन्तु इस परिवर्त्तन-कुण्ड में वह भी स्वाहा हो गई। आज फिर वही प्रश्न है, कुसुम के शरीर पर साबित धोती नहीं है, बच्चे को दूध पिलाने के लिए पैसे नहीं हैं।

आठ दिन पूर्व प्रकृति की इस विलक्षण शक्ति की कल्पना कर सकता तो मेरा ऐसा घोर पतन क्यों होता, भूख की ज्वालाओं के साथ पश्चात्ताप की ज्वालाएँ तो मेरे हृदय को दग्ध न करतीं?

पराजय

वह प्रकृति का पुजारी जन-समाज के कुत्सित वायु-मण्डल से परे निर्जन स्थान में कुटिया बनाकर रहता था। वह स्थान 'मृगकानन' के नाम से प्रसिद्ध था। मृगकानन प्राकृतिक उपहारों से परिपूर्ण अत्यन्त रमणीय स्थान था और हरी-हरी द्रुमावलियों के बीच में पुजारी की वह क्षुद्र पल्लवमयी कुटिया कमनीय सुन्दरता की प्रतिमा प्रतीत होती थी। मानो कालिदास की लेखनी-द्वारा वर्णित कण्व ऋषि का निवास-स्थल हो।

इस कुटी के चारो ओर कण्व ऋषि के आश्रम सदृश्य सुन्दर-सुन्दर मृग-शावक विचरण करते थे; किन्तु शकुन्तला और शकुन्तला की सखियों का स्थान ग्रहण करनेवाला कोई नहीं था। पुजारी एकाकी था। जङ्गली फल-फूल उसकी सम्पत्ति थे, जीव-जन्तु उसके पारिवारिक व्यक्ति थे और

वे हृष्ट-पुष्ट मृगशासक उसके सौहृद थे। मानो पुजारी इस नन्दन-कानन का कन्हैया हो और वे काले नेत्रवाले श्वेत मृगशावक गोपिकाएँ हों।

पुजारी तारक छाया में आसन जमाकर बाँसुरी की सम्मोहक तान छेड़ता और मृगशावकों के समूह मस्त होकर अपने कन्हैया का चित्र आँखों में अङ्कित कर मन्त्र-मुग्ध-से खड़े रहते।

जब रजनी चन्द्रदेव से विदा लेकर अपनी काली साड़ी का अञ्चल सँभालती हुई मन्द गति से चली जाती, तब पुजारी की इस अनोखी रास-लीला का अन्त हो जाता। इस जीवन से पुजारी अत्यन्त सन्तुष्ट था, उसे मानसिक शान्ति प्राप्त थी।

(२)

जन-साधारण में अफ़वाह थी—पुजारी प्रथम जननी जन्म-भूमि का पुजारी था और किसी समय जनता का प्रमुख नेता भी था। इसी अपराध में उसे बारह वर्ष का कठिन कारागार भी भोगना पड़ा था। कारागार से मुक्त होकर उसने अपने देश के प्रचलित आन्दोलन में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया। मानव-समाज से विदा होकर उसने मल्लिका रियासत के घने जङ्गल में अपना उपासना-स्थल बना लिया था। यहाँ ही उसने स्वतन्त्रता देवी की प्रतिष्ठा की थी।

जन-समाज अब भी पुजारी को भूला नहीं था; किन्तु किसी की धारणा थी—वह पराजित होकर किसी के सम्मुख आना नहीं चाहता; किसी का कहना था—हुकूमत का आतङ्क उस पर पूर्णतः जम गया है; और किसी-किसी का विचार ऐसा भी था कि पुजारी जो कुछ हमारा नेतृत्व ग्रहण करके कर सकता था, वह आज सुदूर पर बैठा भी कर रहा है।

(३)

मल्लिका रियासत के शासक वीरबली विक्रमशील ने अपनी राजधानी में एक विशाल ज़ू बनवाया था। ज़ू पर उसने यथेष्ट धन व्यय किया था। विक्रम की इच्छा थी कि उसका ज़ू एक विशाल अजायब वस्तु बन जाय। मेरे ज़ू को देखनेवाले विस्मय में पड़ जाँय—वे किसी ज़ू का निरीक्षण कर रहे हैं या वास्तविक प्राकृतिक वातावरण में पशु-पक्षियों की आनन्द-केलि का अवलोकन कर रहे हैं।

विक्रम को सबसे अधिक मृग एकत्रित करने का शौक था। एक लम्बा-चौड़ा मैदान चारो ओर से घिरा था और उसमें सैकड़ों की संख्या में मृग क़ैद थे। मैदान के बीच में एक संगमरमर का चबूतरा था। विक्रमशील अपने प्रसिद्ध सङ्गीतज्ञों सहित रात्रि में आकर वहाँ बैठता और कुशल कलाकार अपने सङ्गीत के द्वारा हिरणों को मुग्ध करने की चेष्टा करते। विक्रम के जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था, किन्तु किसी प्रकार उसकी इच्छा सफलीभूत न होती थी।

एक दिन विक्रम को पुजारी की मृग-मण्डली का समाचार मिला। विक्रम एक बार स्वयं अपनी आँखों से वह दृश्य देखने को व्यग्र हो उठा और उसी पूर्णिमा की रात्रि को हाथी पर बैठकर उसने जङ्गल में प्रवेश किया।

विक्रम ने दूर से देखा—पुजारी तन्मयता से बाँसुरी में सम्मोहक राग अलाप रहा है और मोहित मृगों के समूह उसे घेरे खड़े हैं।

विक्रम उस अलौकिक राग और अद्भुत दृश्य पर मुग्ध हो गया। ऐसा दृश्य वह अपने ज़ू में उपस्थित कर अवश्य संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देगा। किसी प्रकार यह सारे मृग हाथ आना ही चाहियें। एक-मात्र उपाय पुजारी को अपने वशीभूत करना है।

विक्रम हाथी से उतरा और कुछ सैनिकों के साथ पुजारी के समीप चल दिया।

पैरों की आहट सुनकर पुजारी ने बाँसुरी रख दी और एक विचित्र ध्वनि के द्वारा ख़तरे का संकेत किया। मृगों ने चौकड़ी भरी और जङ्गल में इधर-उधर हो गये।

(४)

पुजारी ने राजा का अभिवादन करके पूछा—क्या आज्ञा है श्रीमान्! प्रणाम करते हुए विक्रम ने कहा—अद्भुत राग है तुम्हारा पुजारी, मैं मुग्ध हो गया। मेरे पास इतने उत्तम-उत्तम कलाकार हैं, किन्तु किसी में यह शक्ति नहीं जो मृगों को अपने संगीत-द्वारा मुग्ध कर सके। पुजारी, तुम्हारी बाँसुरी में जादू है!

नम्रता से पुजारी ने कहा—श्रीमान्, मैं सङ्गीत-कला का ज्ञाता नहीं हूँ, मेरा यह जङ्गली राग पशु-पक्षियों ही के योग्य है।

'नहीं पुजारी, तुम्हारा जैसा संगीत तो मैंने आज तक सुना ही नहीं, मैं चकित हूँ। पुजारी, मैं तुम्हारा आदर करता हूँ। प्रथम साक्षात्कार ही में मैंने तुम्हें वचन दिया था, इस जङ्गल में शिकार करने की मनाही करवा दूँगा। मैंने अपना वचन पूरा कर दिया।'

'राजन्! आपकी यह उदारता मुझे सदैव स्मरण रहेगी, मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आज फिर इस ओर आने का श्रीमान् ने कैसे कष्ट किया? क्या मेरे योग्य कोई सेवा है?'

'पुजारी, क्या मेरी एक इच्छा पूरी करोगे?'

'किसी के अहित के सिवा और आप की प्रत्येक आज्ञा पालन करने में तैयार हूँ। आज्ञा कीजिये।'

आदर के शब्दों में विक्रम ने कहा—आज्ञा नहीं, पुजारी, मेरी प्रार्थना है—एक बार मेरी राजधानी में चलकर अपने इस मस्ताने राग से मेरे ज़ू के मृगों को मस्त कर दो। संसार मेरे ज़ू की विशेषता पर चकित हो जाय। आप ही की कृपा से मेरी यह इच्छा पूरी हो सकती है।

'राजन्! जन-समाज में जाने की मेरी इच्छा नहीं है, फिर भी वचन-बद्ध होने से मैं तैयार हूँ; किन्तु श्रीमान् के मृगों पर मेरी बाँसुरी का किंचित् प्रभाव भी न होगा। यह जङ्गली मृग तो संसर्ग में रहने के कारण मुझसे हिल-मिल गये हैं।'

'तो क्या तुम्हारी यह बाँसुरी मेरे मृगों पर मोहनी-मन्त्र न डाल सकेगी?'

'नहीं श्रीमान्!'

'तो पुजारी, अपने यह मृग मुझे दे डालो।'

'श्रीमान्, सेवक का अपने पर अधिकार है; किन्तु इन मृगों पर कुछ भी अधिकार नहीं है।'

'पुजारी, तुम अपने वचन से विचलित होते हो!'

'कदापि नहीं श्रीमान्! मैंने प्रथम ही निवेदन किया था, किसी के अहित के सिवा आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को तैयार हूँ।'

क्षणिक मौन रहकर राजा ने कहा—मैं इन मृगों के आराम की ख़ातिर कुछ उठा न रखूँगा! पुजारी, इन्हें ज़ू में किसी प्रकार का कष्ट न होगा।

मुस्कराकर पुजारी ने कहा—राजन्! स्वतन्त्रता नष्ट होने से यह

जीवित ही मृतवत् हो जायँगे, इससे तो इनका शिकार खेलना ही उत्तम है।

विक्रम ने इस बार कुछ हुकूमत के स्वर में कहा—कुछ भी हो पुजारी, इन मृगों को मेरे ज़ू की शोभा के लिए तुम्हें देना ही होगा।

'मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ, मृगों पर मेरा अधिकार नहीं है।'

इस बार विक्रम बहुत ही क्रुद्ध हो उठा—मेरी आज्ञा की यह अवहेलना पुजारी! तुम्हारा अधिकार मृगों पर भले ही न हो, मेरा है। यदि तुम मेरी सहायता न करोगे तो वास्तव में इनका अहित होगा।

नम्र वाणी से पुजारी ने कहा—जङ्गल आपका है। श्रीमान् की इच्छा एक बार स्मरण कराना मेरा कर्तव्य है, इस जङ्गल में शिकार न खेलने का आपने प्रण किया था।

विक्रम क्रूर हँसी हँसकर बोला—योगिराज! जिस प्रकार तुम्हारी प्रतिज्ञा में गुञ्जायश है, उसी प्रकार मैं भी शिकार न सही, जङ्गल में आग लगवाने की आज्ञा दे सकता हूँ।

पुजारी मौन हो गया; किन्तु विक्रम और भी क्रुद्ध हो उठा—पुजारी, मैं तुम्हारा सम्मान करता हूँ, तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा है; किन्तु अपमान नहीं सहन कर सकता। तुम मेरे राज्य में हो, चाहूँ तो तुम्हें दण्ड भी दे सकता हूँ।

धीमे स्वर में पुजारी ने कहा—दे सकते हैं श्रीमान्!

इस नम्र उत्तर ने विक्रम को और भी उत्तेजित कर दिया, वह दर्प के साथ बोला—अन्तिम उत्तर दो, मृगों के पकड़ने में सहायता दोगे?

ऊँचा मस्तक करके पुजारी बोला—कदापि नहीं।

राजा ने आज्ञा दी—सैनिक, गिरफ़्तार करो।

वैसे ही मस्तक ऊँचा किये हुए पुजारी ने बेड़ी पहन ली।

(५)

लगभग आधा मार्ग समाप्त हो जाने पर हाथी रोककर विक्रम ने फिर कहा—भूल कर रहे हो पुजारी, मृग तुम्हारे वश में हैं। मेरे ज़ू में उन्हें बन्द करके एक प्रकार से तुम उपकार ही करोगे, वरना तुम्हारी हठ से सारे जङ्गल के पशु-पक्षियों के प्राण जायँगे।

क्षणिक ठहरकर पुजारी ने कहा—विचार करने के लिए दूसरे प्रातःकाल तक अवसर दीजिये!

विक्रम ने आज्ञा दी—सैनिक, बन्धन खोल दो। और प्रसन्न-मुख नगरी को लौट गया।

तत्परता से पुजारी स्थान पर पहुँचा, फिर भी उषाकाल बीत चुका था। सूर्य की प्रखर रश्मियाँ चारो ओर फैली हुई थीं। आज शंख का नाद सुने बिना ही सारे मृग वहाँ एकत्रित हो गये थे और पुजारी को न देखकर आकुल दृष्टि से चारो ओर निहार रहे थे। इस नवीनता पर पुजारी को भी आश्चर्य हुआ।

पुजारी को देखकर मृगों की विकलता दूर हुई, वे कूद-कूदकर प्रफुल्लता प्रकट करने लगे।

प्रकृति की प्रियतमा जननी जन्म-भूमि का अभिवादन करके पुजारी ने वाद्य उठा लिया। मृग भी नतमस्तक हो गये।

'सुहासनी, सुमधुर भाषणी, सुखदाम् वरदाम् मातरम्' के साथ वन्दना समाप्त कर पुजारी ने तीव्र ध्वनि की—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

नित्यानुसार जब मृग लौटने लगे तो पुजारी ने चिन्तित मुद्रा से कहा—मित्रो ! तुम लोगों के साथ मेरी यह पूजा आज अन्तिम है। आज रात्रि के गायन के पश्चात् मैं तुम लोगों से ।विदा ले लूँगा और वह विदा भी शायद अन्तिम होगी।

मृगों पर मानो वज्रपात हो गया। वे शायद पुजारी की भाषा से परिचित थे। अधीर होकर पुजारी के पैरों के सम्मुख लोटने लगे। आँखें पोंछकर पुजारी ने कहा—

'मेरे मित्रो ! मैं अपनी इच्छा से तुम्हें नहीं छोड़ रहा हूँ। यहाँ का राजा वीरबली विक्रमशील तुम्हारी मण्डली पर मोहित हो गया है। उसकी आज्ञा है कि मैं तुम सबको उसके ज़ू के लिए पकड़वा दूँ ; किन्तु मैं स्वतन्त्रता का उपासक हूँ, आज़ादी का मूल्य जानता हूँ, तुम्हारे साथ शत्रुता का व्यवहार कैसे कर सकता हूँ ! मैंने विक्रम की आज्ञा की अवहेलना की है, इसी अपराध में उसने मुझे अपना बन्दी कर लिया था। केवल तुम लोगों से विदा और तुम्हें विपत्ति की सूचना देने के लिए दूसरे प्रातःकाल तक का समय माँगकर आया हूँ। तुम्हारी मण्डली पर विपत्ति आनेवाली है। सम्भव है, राजा मुझे क़ैद करके भी तुम्हें फाँसने का उपाय करे। क्या तुम लोग उसके ज़ू में रहना स्वीकार करोगे ?'

सारे मृगों में एक नवीन उत्साह उत्पन्न हो गया। वे उतावले-से हरी-हरी घास, वृक्षों की लचकीली शाखाएँ और पहाड़ों की ऊँची चोटियों को हसरत-भरी दृष्टि से देखने लगे, मानो कहते हों—हमें अपना जङ्गल बहुत ही प्यारा है, गुरु ! इसे छोड़कर हम जीवन-रक्षा नहीं चाहते। ज़ू में बन्द होने की अपेक्षा अपने जङ्गल में सिंह का शिकार बनना उत्तम है।

वे अपने जङ्गल के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर तन्मय हो गये। पुजारी ने तल्लीनता भङ्ग की—प्यारे मित्रो, अब जाओ; रात्रि में फिर मिलेंगे।

मृग आज पुजारी के समीप से जाने को तैयार न थे। पुजारी की बिदाई के शोक में मृगों की मृग-तृष्णा पूर्ण वेदना लेकर उत्पन्न हो गई थी; किन्तु व्याकुल होकर वे दौड़े नहीं, भागे नहीं और न चौकड़ी ही भरी। वे कभी पुजारी का आलिङ्गन करते, कभी पैरों पर लोटते और कभी व्याकुल होकर चिल्लाते, रोते और फिर मौन होकर एकटक पुजारी का मुँह निहारने लगते। मानो पुजारी की आकृति का सजीव चित्र वे अपनी आँखों में खींच लेना चाहते हैं। मृगों के छोटे-छोटे सुकुमार छौने भी भयभीत-से पुजारी का मुँह निहार रहे थे। पुजारी भी छौनों के शरीर पर हाथ फेर-फेरकर उन्हीं की भाँति रो रहा था।

(६)

आज चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में पुजारी की बाँसुरी तल्लीनता के उत्तुङ्ग शिखर पर नृत्य कर रही थी। वह आज़ादी के मस्ताने तराने अलाप रहा था और मतवाले मृग मदहोश की नाईं झूम रहे थे, मानो आज इसी सङ्गीत-समुद्र का मन्थन कर वे आज़ादी की अमरता खोज-कर रहेंगे।

इस तल्लीनता में कितना समय चला गया, सम्पूर्ण रजनी व्यतीत हो गई, किसी ने जाना ही नहीं। जब उषासुन्दरी की सौन्दर्य-लालिमा बिखरी तो पुजारी ने बाँसुरी रख दी और कहा—मित्रो, अब विदा दो। ईश्वर तुम लोगों की स्वाधीनता को अमर करे।—सारे मृग एक साथ पुजारी को घेरकर लिपट गये; व्यथा से उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े होने लगा। उसी समय राजा की सेना के आने का शब्द सुनाई दिया।

पुजारी ने कठिनता से कहा—बस भाइयो, अब मुझे विदा होने दो। मेरा मोह छोड़ दो, सदैव के लिए विदा दो।

मृग सतृष्ण नेत्रों से घूम-घूमकर पुजारी को निहारते हुए चले गये।

राजा ने समीप आकर पूछा—कहो पुजारी, क्या विचार है? मैं मृगों को पकड़ने के लिए साज-सामान-सहित आया हूँ। मेरी सहायता करोगे न?

पुजारी ने कहा—राजन्! मैंने पुनः विचार कर लिया है, मृगों पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। सेवक दण्ड के लिए तैयार है।

'मृगों पर तुम्हारा कैसा अधिकार है, यह मैं ख़ूब जानता हूँ। जल में रहकर तुम मगर से बैर करते हो तो परिणाम भी अभी अपनी आँखों देख लो।'

राजा ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी—सारे जङ्गल के अन्दर प्रचण्ड अग्नि प्रज्ज्वलित कर दो, और जङ्गल के बाहर चारो ओर जाल डाल दो। जिस प्रकार भी हो, मृगों को पकड़ो।—थोड़ी देर में सारे जङ्गल में भयङ्कर अग्निकाण्ड मच गया। अग्नि की प्रचण्ड लपटें आकाश छूने की चेष्टा करने लगीं। सब पशु-पक्षी व्याकुल होकर करुण चीत्कार कर उठे।

अग्निदेव ने अपना प्रलयकारी रूप धारण किया तो ऐसा जान पड़ने लगा, चारो ओर अग्नि का तूफ़ान आया है। आकाश मानो आग ही की वर्षा कर रहा है, पृथ्वी ज्वालामुखी उत्पन्न कर रही है। पक्षियों की चीत्कारों और शेरों की भयभीत करनेवाली दहाड़ों से आकाश गूँज रहा था, पृथ्वी हिल रही थी। बाँसों की चट-चट चटख़ने की ध्वनि बादलों की घनघोर गर्जना को भी व्यर्थ कर रही थी। बड़े-बड़े वृक्ष इस प्रकार धड़ाम शब्द करके गिर रहे थे, जान पड़ता था आकाश

से हज़ारों बिजलियाँ एक साथ टूट रही हों, मानों मृगकानन खाण्डव-वन हो और अग्नि हज़ार सिंहों का मुख लेकर जीवों का भक्षण कर रही हो।

जान नहीं पड़ता था—क्या है, क्या हो रहा है? प्रलय की आँधी है, भूकम्प की आग है, समुद्र का तूफ़ान है या शङ्कर का ताण्डव-नृत्य है?

राजा के पार्श्व में खड़े हुए पुजारी ने बाँसुरी उठा ली और रण-भेरी का राग अलाप दिया—'अधीन होकर बुरा है जीना, है मरना अच्छा स्वतंत्र होकर!' उसी समय मृगों का समूह अग्नि की ओर भागता दिखाई दिया। वे दूर से पुजारी की ध्वनि की ओर मुख करके क्षणिक ठहरे, झूमे, फुदके और पुजारी के सङ्गीत पर ताल देते हुए प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड में कूद पड़े, मानो आहुति होता के मंत्रों पर स्वयं ही उच्चारण करती है, 'स्वाहा!'

कन्यादान

प्रकृति का वातावरण स्वच्छ था। वर्षा-ऋतु की वह सन्ध्या सुहावनी हो उठी थी; फिर भी क्लब में आज 'ब्रिज' नहीं जमा तो मनोरञ्जन के हेतु दूसरे साधन की खोज हुई। साधनों पर अनेक सम्मतियाँ आईं, फिर उन पर वाद-विवाद आरम्भ हुआ और वाद-विवाद के उपरान्त अन्त में निश्चय हुआ कि डिप्टी साहब से एक लच्छेदार क़िस्सा सुना जाय। दरख़्वास्त पेश हुई।

न जाने क्यों आज दोस्तों के प्रोत्साहन देने पर भी डिप्टी साहब में हास्य-रस का संचार नहीं हुआ; उनके स्वभाव के प्रतिकूल इस समय उनके मुख पर गम्भीरता ही अधिकार किये रही। वे मित्रों का मन रखने को बोले— किस्सा-विस्सा आज नहीं बन सकेगा, हाँ, एक सच्ची कहानी सुनो तो सुनाऊँ।

'जरूर ! जरूर !!' से सम्मति मिली और डिप्टी साहब ने अपनी कहानी आरम्भ की—

अभी हाल ही में मेरे एक मित्र के लड़के का विवाह था। बारात लखनऊ से प्रयाग जा रही थी। मित्र ने मुझे भी बुलाया था। मैंने लिख दिया था बारात के साथ न चलकर मैं स्वयं ही प्रयाग पहुँच जाऊँगा।

प्रयाग स्टेशन पर नौशे का छोटा भाई मुझे 'रिसीव' करने आया था। मैंने स्वाभावतः ही पूछा—जनवासे से बारात गई ? विवाह का मुहूर्त कितने बजे का है ? और लड़की के पिता का क्या नाम है ?

'—मुंशी तारापतराय रिटायर्ड जज...'

इसके बाद मैंने कुछ नहीं सुना। इस नाम पर मैं चौंक पड़ा और फिर स्तब्ध रह गया। 'मुंशी तारापतराय जज' ये शब्द मस्तिष्क में पूर्णतः झंकृत हो उठे और अतीत की स्मृतियाँ चित्रपट की भाँति आँखों के सामने आने-जाने लगीं। सर्विस में हम दोनो ही कई स्थानों पर साथ-साथ रहे। जब मैं प्रयाग में था वहाँ भी उनका बँगला मेरे समीप ही था। जज साहब बहुत ख़ुशमिजाज़ व्यक्ति थे। शहर में उनकी ज़िन्दादिली की धाक थी। हँसी मानो उन पर कुर्बान थी ; और खुशी को हृदय में समाने का स्थान नहीं था। बात-बात पर ऐसे जोर का ठहाका लगाते कि रोता वातावरण भी हँस उठता।

परन्तु रिटायर्ड होते ही बेचारे का जीवन बदल गया। वह सुख से परिपूर्ण जीवन उतना ही कष्टमय बन गया था। खिलाड़ी संसार पहले उन्हें हँसी के खेल खेलाकर अब अगाध वेदना देकर रुला रहा था। उनके दो पुत्र थे—नवीन और प्रवीन। नवीन ने विलायत जाकर

उनके सुखी जीवन में जहर घोल दिया। अनेक सद्कामनाओं के हेतु एकत्र किया हुआ बूढ़े पिता का धन पुत्र की विलासिता में नष्ट होने लगा।

नवीन को राह पर लाना जज साहब के लिए कठिन हो गया। रुपए भेजने में सख़्ती करते तो नवीन का पत्र आता—मैं ज़हर खा लूँगा। मातृ-हृदय की ममता तड़प उठती और जज साहब रुपए भेजने को मज़बूर हो जाते। और फिर विलायत से मेम लाकर तो नवीन ने उन्हें बहुत ही दुःखित तथा लज्जित कर दिया।

इस प्रकार नवीन की ओर से बिल्कुल निराश होकर, अब उनके सब अरमान और सारी अभिलाषाएँ प्रवीन पर ही निर्भर थीं, लेकिन एक नई घटना घटी। प्रवीन बीमार हुआ और डॉक्टरों ने उसकी बीमारी को टी० बी० निश्चित किया।

माता-पिता दोनो के दिल टूट गये। सुख, शान्ति सब कुछ विदा हो गई। माता शीघ्र ही इस चिन्ता का ग्रास बनी और स्त्री की मृत्यु से जज साहब का साहस भी छूट गया। उनका दुःख असहनीय हो गया। वे कुछ ही दिनों में बिल्कुल बूढ़े दीखने लगे।

(२)

बहुत-सा समय जज साहब का केवल शोक ही में व्यतीत हो गया ; किन्तु शोक का वेग कुछ क्षीण होते ही सांसारिक इच्छाओं ने उन पर आक्रमण किया।

अब किसी प्रकार भी अपना समय व्यतीत करना जज साहब के लिए असम्भव हो गया। उनके जीवन के चारों ओर का अभाव एकबारगी प्रबलता के उत्तुङ्ग शिखर पर गूँज उठा। दिन-रात में चौबीस घण्टे होते हैं, और प्रत्येक घण्टे में साठ मिनट होते हैं। इतना लम्बा समय बूढ़े पेन्शनर का कैसे गुज़रे ?

महलसरा जैसा बँगला है। नौकर-चाकर, धन-सम्पत्ति सब कुछ है; परन्तु गृहस्थी चलानेवाला कोई नहीं है, और जज साहब ने जो कार्य कभी नहीं किये उन्हे वे कैसे समझें। स्त्री की मृत्यु हो गई तो घर में एक पुत्र-वधू ही होती; बुढ़ापे में आराम तो मिलता, आटे-दाल की चिन्ता तो न करनी पड़ती।

प्रवीन का भी कोई फ़िक्र लेनेवाला है! भोजन के समय बेचारे को नित्य ही नौकरों से झगड़ा करना पड़ता है और आधे पेट ही खाकर उठ आता है। कहने को तो इतने नौकर हैं, किसी को भी तनिक शऊर नहीं। यही हाल रहा तो प्रवीन कहीं फिर बीमार न पड़ जाय।

ऐसी ही चिन्ताएँ जज साहब को हर समय उद्विग्न रखती थीं। वे अपनी तुलना अपने पड़ोसी दीवानचन्द्र से करते तब और भी व्यथित हो उठते। वह बुड्ढा अपने नाती-पोतों में कैसा मग्न है। पाँच वर्ष का गिरीश दादा की उँगली पकड़कर सहारा देता है। प्रातः और संध्या-काल वायु-सेवन को ले जाता है, और वह छोटी-सी कामिनी कल पुतरिया-सी प्यारी आवाज़ में कैसे पुकारती थी—बाबा लोटी त्याल है। और कामिनी का छोटा भइया बाबा की गोद में चढ़ा मूँछें नोचा करता है। यह है बुढ़ापे का सुख।

मेरे भी दो पुत्र हैं। एक विलायत रिटर्न्ड है—वह है, बच्चा है, किन्तु मुझे क्या? बेटे का हाल तो देखो, पिता की ममता भी चली गई; कभी एक पत्र भी तो नहीं लिखता। रहा प्रवीन, डॉक्टर कहते हैं उसे टी० बी० है; फिर उसका विवाह कैसे करूँ? अपने सुख के लिए किसी की कन्या का गला तो नहीं काटा जाता?

किन्तु एक बात है; कोई किसी का भाग्य थोड़े ही देख आया है। टी०बी० के रोगी बरसों जीवित रहते देखे गये हैं। ईश्वर उसकी बहुत

आयु करे। क्या मालूम डॉक्टरों का भ्रम ही हो। फिर तो बीमार भी नहीं हुआ, बहुत दिनों से बिल्कुल ठीक है। डॉक्टर लोग यों ही कह देते हैं। सांसारिक इच्छाओं को इस विचार के आधार पर पुष्टि मिली। लालसाओं ने उन पर फिर कुछ ऐसा जादू किया कि वे फिर प्रवीन का विवाह करके ही माने।

(३)

विवाहोपरान्त कुछ दिन भी सुख से व्यतीत न हो पाये थे कि विपत्ति के घनघोर बादलों ने वज्रपात कर दिया। विवाह के तीन मास बाद ही प्रवीन का रोग उभरा और उसकी मृत्यु हो गई।

अजहद शोक और पश्चात्ताप से जज साहब पागल-सरीखे हो गये। आश्चर्य है कि वे सचमुच पागल क्यों नहीं हो गये।

उनके मार्मिक शब्द मैं भूल नहीं सकता। विह्वल होकर उन्होंने मुझसे कहा था—डिप्टी साहब ! सब कुछ चला गया, जो है वह भी जाता है। हाँ, मुझ बदनसीब ने अपने साथ एक रोनेवाली को और बुला लिया है। मेरे जिगर का टुकड़ा प्रवीन, मेरी अनेक खण्डित आशाओं का झड़ा हुआ कण, मेरे जीवन का टिमटिमाता हुआ दीपक प्रवीन भी बीमार है, बताओ क्या करूँ ? मैं अपनी सारी संपत्ति लुटाने को तैयार हूँ। कोई मेरे बेटे को बचा ले ?

प्रवीन की मृत्यु के उपरान्त तो उनका बहुत ही बुरा हाल था। सारी रात बंगले के कम्पाउन्ड में टहलते रहते और 'हाय बेटा ! हाय बेटा !!' कहकर चीख़ मार-मारकर स्त्रियों की भाँति रोते।

'भगवान ने यह क्या किया ! यह किस पाप का दंड है !! मुझ अन्धे की लकड़ी भी छीन ली। इस अबोध बालिका का क्या होगा !! यह मैंने क्या किया !!!

'कैसी भारी भूल की मैंने। किसी की बात नहीं मानी। एक मासूम बच्ची का सत्यानाश कर दिया। मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए जाते हैं। मैं ज़िन्दा ही दोजख की आग में जल रहा हूँ। बताओ! बताओ!! कोई मुझे इस पाप का प्रायश्चित्त बताओ। इस बार मैं प्रत्येक का कहना मानूँगा। मुझे इस अपराध का दंड मिलना चाहिये।

'मैंने सुनीता के हृदय में प्रचंड अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी है। यह आग उसे सुलगा-सुलगाकर मारेगी। मैंने मौत के दण्ड से भी बढ़कर उसे दण्ड दिया है। मुझे जन्म-जन्मान्तरों में भी शान्ति प्राप्त न होगी। इस भयंकर पाप की ज्वालाएँ सदा ही मेरे हृदय को दग्ध करती रहेंगी। मैंने जान-बूझकर, समझकर, उसे प्रचंड वेदना की अग्नि में झोंक दिया है।'

अथाह शोक के प्रवाह ने जज साहब की नींद, भूख, सब कुछ हर ली थी। शरीर हड्डियों का पिंजर-मात्र रह गया था। बड़ी-बड़ी तेजस्वी आँखें गड्ढे में समा गई थीं। सर पर रूखे बाल, बढ़ी हुई दाढ़ी, अस्त-व्यस्त वस्त्र। इस शोचनीय दशा पर देखनेवालों को भी रोना आता था। अपने ट्रान्सफर (Transfer) के समय तक मैंने उन्हें इसी अवस्था में छोड़ा था और जज साहब के अधिक दिन जीवित रहने की मुझे कोई आशा नहीं थी। जब उनका स्मरण होता था कल्पना उनकी मृत्यु या पागलपन का चित्र ही मेरे सम्मुख उपस्थित करती थी। क्या ये हमारे वही जज साहब हैं?

(४)

ताँगा अपने उन्हीं पुराने परिचित जज साहब के बँगले के सामने देखकर मुझे कुछ आशा भी हुई और विस्मय भी हुआ—अरे! यह

तो उन्हीं जज साहब का बँगला है। अभी जीवित हैं !! किन्तु वे विवाह किसका कर रहे हैं ? उनके कोई कन्या तो थी ही नहीं !

इन्हीं विचारों में उलझा हुआ मैं विवाह-स्थल पर पहुँचा और वहाँ का दृश्य देखकर मैं चित्र-लिखित-सा खड़ा रह गया। विवाह-स्थल की शोभा अपूर्व थी। अरमान और हौसले के सारे ही सामान एकत्र थे। केवल मंडप ही इतने साज-बाज से सजाया गया था कि वही विवाह की धूमधाम का दिग्दर्शन विराट रूप में करा रहा था। कीमती झालरों के साथ पुष्प-पल्लव का मंडप बनाने में कला और धन के सदुपयोग का अच्छा परिचय दिया गया था। चारो ओर हजारों की संख्या में बिजली के बल्ब जगमगा रहे थे। बैन्ड बज रहा था। आतशबाजियाँ छूट रही थीं। मंडप के चारो ओर करीने से कुर्सियाँ लगी थीं जिन पर शहर के प्रतिष्ठित सज्जन बैठे थे और मंडप के अन्दर वेदी पर बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित वर-कन्या विराजमान थे। पार्श्व में हमारे वही चिर-परिचित जज साहब अपनी विधवा पुत्रवधू सुनीता का कन्यादान दे रहे थे, और आज वे अपने पहले दिनों की भाँति ही प्रसन्न थे। मुख पर वास्तविक हँसी नृत्य कर रही थी। आँखें प्रफुल्लता से आलोकित थीं। होठों से वही मतवाली हँसी फूटी पड़ती थी। जान पड़ता था उत्साह सम्हाले नहीं सम्हलता। क्षण-भर भी खामोश बैठना असह्य था। एक बात की और खिलखिलाकर हँस दिये। हँस-हँसकर उन्होंने अपनी सारी संपत्ति दहेज में दे दी, और ठट्ठा मारकर हँसने लगे। इस हँसी में बनावट का लेश नहीं था, न किसी छिपी वेदना का ही चिह्न शेष प्रतीत होता था। एक अबोध बालक और उस छाँसठ वर्ष के बूढ़े की हँसी में मुझे किंचित मात्र भी अन्तर नहीं जान पड़ता था। शब्दों में वही उत्साह, वही उमंग, और वही पहले-सी जिन्दादिली थी।

उस आनन्द और आह्लाद के वातावरण में भी मेरी आँखों के सम्मुख जज साहब के शोक-विलाप तथा प्रवीन की मृत्यु के दृश्य सजीव हो उठे। मैं कठिनता से अपने आँसू रोक सका। मैंने देखा कि उनके अन्य मित्र भी यह दृश्य देखकर आँसू रोक रहे हैं; परन्तु जज साहब शान्त थे, प्रसन्न थे—जान पड़ता था दुःख-सुख से परे होकर वे अपनी कन्या का ही कन्यादान दे रहे हैं।

बलिदान

(१)

राजपुरोहित को ब्राह्मण-धर्म पर शंका उत्पन्न हो गई थी। वे सोच रहे थे—हम कर्मकांडी ब्राह्मणों का यह जीवन अनुकरणीय है या इन राजपूत सैनिकों की मृत्यु ? ब्राह्मण-धर्म की इस समय महत्ता है या क्षत्रिय-धर्म की ?

'कुछ भी हो, मुझे तो इस समय अपना जीवन भार-स्वरूप जान पड़ रहा है। यदि इसी युद्ध में मैं भी क्षत्रिय-धर्म का पालन करके धराशायी हो जाता, तो नेत्रों को यह पतन के दृश्य देखने न पड़ते, हृदय को यह असीम वेदना इस प्रकार दग्ध न करती।

'राज्य नष्ट हो गया, राज-सेना समाप्त हो गई, राज-कर्मचारी भी

राज्य-कर्तव्य का पालन कर गये। राज-धर्म, राज-कर्म सभी कुछ तो चला गया ; फिर राजपुरोहित ही के जीवित रहने की आवश्यकता क्या थी ? राजपुरोहित का क्या राज्य के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है ? इस मेवाड़ भूमि पर क्या मेरा जन्म नहीं हुआ है ? मेवाड़ क्या ब्राह्मणों का स्थान नहीं है ? फिर ब्राह्मण-धर्म देश के प्रति कर्तव्य की इस प्रकार अवहेलना क्यों करता है ? जन्म-भूमि की रक्षा करना क्या क्षत्रियों ही का कर्तव्य है, ब्राह्मणों का नहीं ?

'अकर्मण्य राणा उदयसिंह राज्य-कर्तव्य से च्युत होकर भाग गये और हम उचित पथ का दिग्दर्शन कराने वाले ब्राह्मण-धर्म की यह अवहेलना देखकर शान्त बैठे रहे ! शास्त्रों के मतानुसार राणा को राज-धर्म का तत्त्व नहीं समझा सके, उन्हें राज-धर्म-पालन के लिए, प्रजा-कर्तव्य-पालन के लिए उत्तेजित नहीं कर सके ! उपदेशों द्वारा धर्म की ओर उन्हें प्रेरित नहीं कर सके और न उनकी इस कायरता पर, इस अन्याय पर, क्रुद्ध होकर शाप-द्वारा उन्हें भस्म ही कर सके ! कहाँ गया ब्राह्मणों का तेज, ब्राह्मण-धर्म की कर्मण्यता ? और हमारी ही आँखों के सामने राजा की अनुपस्थिति में राजपूत मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए, क्षत्रिय-धर्म के लिए, जाति की आन के लिए, इस राजदुर्ग के लिए, रणचण्डी को अपनी आहुतियाँ दे गये ! मरकर भी अपना सम्मान, अपना गौरव अमर कर गये ; भारतीय आदर्श, क्षत्रिय वीरता का अनुपम उदाहरण छोड़ गये ! विदेशी यवनों को अपने शौर्य्य का, देश-भक्ति का, आत्माभिमान का अद्भुत परिचय दे गये ! धन्य है क्षत्रिय-धर्म !

'राजपूत महिलाएँ तक अपने धर्म, सतीत्व, स्वाभिमान और स्वा-धीनता की ख़ातिर मेरी आँखों के सम्मुख प्रज्वलित अग्निकुण्ड में

समिधा की भाँति क्षार हो गईं। इस जौहर-व्रत के सम्मुख किस धर्म की महत्ता शेष है ?

'और हम कर्मकाण्डी ब्राह्मण केवल अग्निदेव को घी की आहुतियाँ दे-देकर ही सन्तुष्ट हैं, बस इतने ही में अपना स्वाभिमान, सम्मान, आत्म-गौरव मानते हैं। जब ब्राह्मणों का तेज नष्ट हो चुका है, उनकी साधना डगमगा रही है, ब्राह्मण-धर्म निर्जीव-सा प्रतीत होता है, तो फिर ब्राह्मण राजपूतों ही की सहायता करके देश की रक्षा क्यों नहीं करते ? क्या क्षत्रिय परिवारों में श्राद्ध का भोजन खाना, विभिन्न संस्कारों में दक्षिणा लेना ही ब्राह्मणों का एकमात्र कर्तव्य है ? यदि मैं मेवाड़ी कटार लेकर यवनों का सामना करता तो राजपुरोहित के धर्म पर कलंक-कालिमा लग जाती ! और मेवाड़ की ब्राह्मण-जाति को, ब्राह्मण-धर्म को, अब यवनों के आधीन देखकर ब्राह्मण-धर्म की महत्ता है, आदर है, सम्मान है !

'धिक्कार है इस अकर्मण्यता पर ! संसार के सारे ब्राह्मणो, तपस्वियो, तेजस्वियो ! मुझे शाप दे दो, अपने तेज से भस्म कर दो। मैं तुम्हारे धर्म पर कलंक लगाने की आकांक्षा कर रहा हूँ। आज से मेरे जीवन का लक्ष्य, मेरा ध्येय, मेरा कर्तव्य, मेवाड़ को पुनः स्वाधीन करने का प्रयास होगा। मैं क्षत्रिय-धर्म का आदर्श सम्मुख रखकर क्षत्रियों ही को नहीं, ब्राह्मणों को भी युद्ध के लिए उत्तेजित करूँगा। स्वाधीनता की लगन मेरी साधना होगी ; युद्ध के गान, वीरता के तराने मेरे स्तोत्र होंगे। आज से राजपुरोहित की दक्षिणा की माँग बहनों के भाई, माताओं के लाल, सौभाग्यवतियों के पति होंगे।'

(२)

राणा उदयसिंह की अन्त्येष्टि कराने के पश्चात् राजपुरोहित ने

सुना—राणा अपने सर्वगुणसम्पन्न ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित करके विलासी कुमार जगमल को उदयपुर का शासक नियुक्त कर गये हैं।

जगमल जैसे अयोग्य राजकुमार का उदयपुर के सिंहासन पर बैठना राजपुरोहित को उचित न जान पड़ा। उन्होंने निश्चय कर लिया—किसी प्रकार भी हो, मेवाड़ का मुकुट प्रताप के शीश पर रखना है; तभी मेरा सुख-स्वप्न पूर्ण हो सकेगा।

राजपुरोहित तीव्रता से राजमहल में पहुँचे। देखा, अभिषेक की तैयारियाँ हो चुकी थीं। जगमल गद्दी पर सुशोभित था। तिलक करने के लिए उन्हीं की प्रतीक्षा थी।

राजपुरोहित ने राजसभा के बीच में खड़े होकर ओजस्वी शब्दों में कहा—कुमार जगमल, बड़े भाई का स्थान स्वयं ग्रहण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। स्वर्गीय राणा के इस अन्याय को प्रजा कदापि सहन न करेगी। मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से तुम्हारे सम्मुख आया हूँ। मुझे अधिकार दिया गया है, मेवाड़ का राज-मुकुट अयोग्य के सिर पर न रखकर योग्य के मस्तक पर रखूँ।

'मेवाड़ को इस समय राजा की आवश्यकता नहीं है। उसे एक सच्चा सैनिक चाहिये। मेवाड़ पर आज पराधीनता के बादल घिर रहे हैं। इन बादलों को छिन्न-भिन्न करने की शक्ति प्रताप के ही तीरों में है। मौन क्यों हो कुमार? क्या अत्याचारियों के उन्मत्त मस्तक विदीर्ण करने की शक्ति तुम्हारे कम्पित करों में है? क्या सोचते हो सामंतो! स्वाधीनता देवी के पुजारी प्रताप को पवित्र मुकुट अर्पण करना चाहते हो या मधुबाला के उपासक जगमल को? जन्मभूमि का उद्धार चाहते हो, या उसकी पराधीनता की बेड़ियों को और भी पुष्ट करना?'

पुरोहित की उत्तेजना से वीरों की भुजाएँ फड़क उठीं। कौमी जोश से रक्त खौलने लगा। सारे राज-कर्मचारी एक स्वर से बोल उठे—राणा प्रतापसिंह की जय !

मौन जगमल ने मस्तक नीचा कर लिया।

(३)

मेवाड़-भूमि की धूलि मस्तक पर धारण करके प्रताप ने भक्ति-भाव से अपनी जननी जन्म-भूमि को प्रणाम किया।

वह समय समीप था जब वे सदैव के लिए मातृभूमि से विलग होकर संसार के किसी अन्य कोने में विलीन हो जाते; किन्तु अश्वारोही होने से क्षणभर पूर्व ही सुना—राणा प्रतापसिंह की जय।

प्रताप सोचने लगे—स्वर्गीय पिता के आज्ञा पत्र की उपेक्षा करने का विचार मैंने स्वप्न में भी नहीं किया। मैं मेवाड़-भूमि को प्यार करता हूँ, उसके राज-वैभव को नहीं। मैं जगमल को यह चिन्ता करने का अवसर भी नहीं देना चाहता कि 'प्रताप मेरे मार्ग का रोड़ा है।' इसीलिए तो उसके सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही देश छोड़ रहा हूँ। फिर प्रजा जयनाद करके मेरा उपहास क्यों कर रही है ?

उसी समय राजपुरोहित स्वर्ण के थाल में मुकुट लेकर सम्मुख उपस्थित हुए। प्रधान मन्त्री ने मस्तक नवाकर अभिवादन किया। सेनापति ने सैनिकों सहित सलामी दी।

राजपुरोहित ने मुकुट हाथ में उठाकर कहा—राणा, यह प्रजा का अधिकार, मेवाड़ का वैभव, काँटों का ताज मैं तुम्हारे लिए लाया हूँ। मेवाड़ की शान के लिए, पूर्वजों की आन के खातिर और वीरता के परवाने राजपूतों के बलिदान के लिए इसे ग्रहण करो।

'पराधीनता के बन्धन में जकड़ी मेवाड़-जननी तुम्हारी ओर आशा भरी दृष्टि से ताक रही है, और ताक रहे हैं स्वर्ग से तुम्हारे पूर्वज। स्वाधीनता की साधना करना मेवाड़-भूमि की धूलि का प्रभाव है। जब सारे ही शौर्य्यशाली राजपूत वीरता का वैभव ही नहीं, बहन-बेटियों का गौरव भी अकबर पर लुटा चुके हैं, तब इस पतन के युग में भी, सीसौदिया वंश के वीर बप्पा रावल के रक्त के प्रभाव से एक बार चमके उठें ये मेवाड़ी कटारें, जिनके सम्मुख काल भयभीत होता है, मृत्यु पराजित होती है, यमदेव लज्जित होते हैं और रण-चण्डी सन्तुष्ट होती है।

'वीर राणा, आज यह मुकुट सुख-शान्ति का न्यौता नहीं, विपत्तियों का आवाहन है। यह राज्य-वैभव की लड़ियाँ नहीं, पीड़ाओं की कड़ियाँ हैं; विलास की सामग्री नहीं, त्याग की साधना है। यह यातनाओं की नैया दुःखों के पारावार से पार करनी है।

'वीर-प्रवर, हमारी आशाएँ पूर्ण करो। मेवाड़ के उद्धार का बीड़ा उठाओ, और इस प्रतिज्ञा के चिन्ह-स्वरूप इस मुकुट को ग्रहण करो।

'भगवान इसका गौरव कायम रखने की तुम्हें शक्ति दे।'

प्रताप ने मेवाड़ी कटार छूकर कहा—जनता का यह आदेश शिरोधार्य्य है। मैं प्रण करता हूँ कि जिस समय तक मेवाड़ को स्वतन्त्र न कर लूँगा, झोपड़ी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा, पृथ्वी पर शयन करूँगा। उस समय तक आराम के सामान, सुख की सामग्रियाँ, राज-सुख-भोग मेरे लिये त्याज्य हैं।

जनता ने प्रफुल्लित होकर राणा प्रतापसिंह की जय-ध्वनि से आकाश गुँजा दिया।

(४)

'शक्तिसिंह, शिकार मेरा है।'

'कदापि नहीं, शिकार मेरा है।'

'याद रहे शक्तिसिंह, किससे बात कर रहे हो। यह धृष्टता है। शिकार तुम्हारा नहीं, मेरा है। उसे प्रथम ही मेरा तीर लक्ष्य बना चुका था।'—हुकूमत के शब्दों में राणा ने शक्तिसिंह से कहा।

शक्तिसिंह भी उत्तेजित हो गये—वास्तविक बात यदि धृष्टता है, तो मैं धृष्टता का स्वागत करता हूँ। आप झूठ कहते हैं राणा, शिकार शक्तिसिंह के तीर से धराशायी हुआ है।

'तुम्हारा यह साहस शक्तिसिंह, कि मुझे झूठा कहो। बस, ख़ामोश हो जाओ; भूलो नहीं कि मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह के सम्मुख खड़े हो। प्रताप यह अपमान सहन नहीं कर सकेगा। मूर्ख! भला चाहता है तो आँख के सामने से हट जा।'

'जानता हूँ आप मेवाड़ के महाराणा हैं, मेवाड़ के स्वामी हैं। राज्यश्री आपके माथे पर शोभित है। बस, महाराणा प्रताप और शक्ति-सिंह में केवल इतना ही अन्तर है। वीरता के नाते दोनो समान हैं। महाराणा होने का घमण्ड मुझे न दिखलाइये; शिकार मेरा है।'

'अरे पापी, अधम, वाचाल, दम्भी, तेरा यह साहस! तो दण्ड के लिए तैयार हो जा। प्रताप ने जीवन में इतना कड़ुआ घूँट कभी नहीं पिया है।'

'सीसौदिया वंश के सिंहासन पर आसीन राणा, तुम्हें अपने झूठ, घमण्ड और अन्याय पर लज्जित होना चाहिये। तुम्हारी धमकी से शक्ति-सिंह भयभीत होनेवाला नहीं है।'

राणा अब अपने को वश में न रख सके। क्रोध से शरीर काँपने लगा। तलवार खींचकर बोले—सावधान शक्तिसिंह! अपनी इस वाचालता का दण्ड पाने को तैयार हो जाओ। यह अपमान केवल प्रताप ही का अपमान नहीं, सम्पूर्ण मेवाड़ का अपमान है। मैं कदापि इसे सहन न करूँगा।

जोश में शक्तिसिंह ने भी तलवार निकाल ली—मेवाड़ के अन्यायी राणा, आप भी सावधान हो जायँ। आप मेवाड़ के शौर्यशाली हैं, तो शक्तिसिंह भी एक महान पराक्रमी सैनिक है। तैयार हो जाइये।

राजपुरोहित मौन खड़े सोच रहे थे—यह क्या हो रहा है? कार्य के प्रारम्भ ही में वज्रपात! वंश-परम्परानुसार राजतिलक के उपरांत राणा मृगया के लिए आये थे। इस अवसर पर यह अपशकुन! यह फूट, यह पारस्परिक कलह, यह गृह-युद्ध! यह कुल का नाश कर देगा, देश का पतन, जाति का संहार, और सीसौदिया वंश पर कलंक का टीका लगाकर रहेगा। अरे मूर्खो, इसी फूट ने भाई को भाई से लड़ाकर भारत को गुलाम बना दिया; अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं!

'लक्षण कुछ अच्छे प्रतीत नहीं होते। हा देव! क्या होनेवाला है; हम लोगों की आशाएँ क्या व्यर्थ जायँगी, मेवाड़ क्या पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा ही रहेगा; मेवाड़ का पुनरुत्थान नहीं होगा?

'पर भाई-भाई के युद्ध का अन्त कैसे हो? दोनो वीर हैं, दोनो पराक्रमी हैं और दोनो इस समय क्रोधाग्नि में जल रहे हैं। किन्तु दोनो ही मूर्ख हैं। इस वीरता का अवश्य महत्त्व है। इन मेवाड़ी कटारों में विलक्षण शक्ति है; इन वीरों की भुजाओं में पराक्रम है; परन्तु अपने ही पर इनका प्रयोग करनेवाले मूर्ख नहीं तो और क्या हैं?

'अनर्थ ! अरे, महा अनर्थ होने जा रहा है ; दोनो ने तलवारें खींच ली हैं !'

पुरोहित चिल्ला उठे—सावधान ! शक्तिसिंह तुम वीर हो, किन्तु देशभक्त ; राणा ! तुम उदार हो, महान हो, भाई का अपराध क्षमा करो।

क्रोध में उन्मत्त राणा बोले—कदापि नहीं। इस दम्भी के लिए क्षमा असम्भव है। प्रताप की कटार मियान से निकलने के उपरान्त फिर प्यासी अन्दर नहीं जाती। हट जाइये पुरोहितजी, इस पापी का दण्ड मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

दूसरी ओर से लपकते हुए शक्तिसिंह ने कहा—वीर का अपमान करनेवाला कोई भी हो, वह दण्ड का पात्र है। अभी इस घमण्डी का मस्तक धूल में लोटकर बता देगा, वीरता का गौरव श्रेष्ठ है, या राज्य का वैभव !

राज-पुरोहित ने मन में कहा—ठीक है, वीरों की तलवारें रक्त की प्यासी हैं। उन्हें रक्त चाहिये ; रक्त ही से वे सन्तुष्ट हों ! किन्तु राणा का बाल भी बाँका न होने पाये, वरना मेवाड़ का पतन हो जायगा, मेवाड़ जननी की पराधीनता अमर हो जायगी।

'आज संसार देखे कि श्राद्ध के भोजन पर मरनेवाले ब्राह्मण देश के लिए भी मरना जानते हैं।

'शोणित की प्यासी तलवारो, अपनी तृष्णा को शान्त कर लो। वीरो, अपनी आन को कायम रखो, तुम्हारी तलवारें अवश्य मियान में खाली न जायँगी।'

दोनो के आक्रमणों के बीच में पुरोहित कूद पड़े। उनके मस्तक के

साथ ही तलवारें भी धराशायी हो गईं। प्रताप चिल्ला पड़े—सीसौदिया वंश पर ब्रह्म-हत्या का पाप !

शक्तिसिंह का मस्तक नीचा हो गया।

ब्राह्मण के रक्त से क्रोधाग्नि शान्त हो गई, शोणित की प्यासी तलवारों की प्यास बुझ गई, भाई-भाई के युद्ध का अन्त हो गया। वह मेवाड़ का परवाना मेवाड़ पर बलिदान हो गया।

× × ×

राजपुरोहित का यह बलिदान व्यर्थ नहीं गया। हल्दी-घाटी के युद्ध में ब्राह्मणों ने भी क्षत्रियों की भाँति युद्ध में भाग लिया और अन्त में मेवाड़ की स्वाधीनता अमर हो गई।

सुधिया

विधवा सुधिया बहू-बेटे के संसर्ग में न रहकर अपनी स्वामिनी के साथ मथुरा चली गई।

वह विधवा है, घर-गृहस्थी के माया-जाल में अब नहीं रहेगी। जन्म-कर्म्म सुधारना उसके लिए अब आवश्यक हो गया है। अब वह वृन्दावनविहारी की शरण में जाती है, अपनी स्वामिनी की तन-मन से सेवा करके वह मोक्ष की कामना करेगी। इन मालकिन के सत्सङ्ग ही से तो भगवान ने उस निर्बुद्धि कहारिन को इतना ज्ञान दिया है—जो आज सांसारिक माया-मोह से मुक्त होने की उसमें प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है। वरन जिस प्रकार उसने इतनी आयु केवल पेट के धन्धे में संलग्न रहकर व्यतीत कर दी, उसी प्रकार जीवन के शेष दिनों में

भी चौका-बासन उसका कर्मकांड बना रहता। और यदि हाथ-पैर न चलते, दूसरों की मजूरी न कर पाती तो बेटा-बहू दो रोटी भले ही खिला देते ; किन्तु बहू ताने-तिश्नें से बाज़ न आती।

बुड्ढा सुधिया केवल पेट के लिए उपेक्षा, अपमान कितनी साँसत बरदाश्त करती। रोती, कुढ़ती और इसी लौकिक कलह में फँसी-फँसी मर जाती। उसकी अन्तरात्मा जाने कहाँ-कहाँ भटकती, किधर जन्मती, और कौन जाने क्या होता ? कर्म्म ही कौन अच्छे बन पड़े हैं ?

मज़दूरी करके पेट तो अब भी पालना है ; किन्तु वह मज़दूरी पैसे के लिए नहीं होगी—उसमें सेवा-भाव का ज़बर्दस्त पुट रहेगा। वह सेवा क्षुधाग्नि को शान्त करने ही के लिए नहीं—मुक्ति के लिए होगी। किसी प्रकार भी हो वह मालकिन को प्रसन्न करके गुरु महराज से दीक्षा लेगी।

(२)

सुधिया की स्वामिनी मुसम्मात रम्भावती धनवान घर की विधवा थीं। पति यथेष्ट सम्पत्ति छोड़ गये थे। उस सम्पत्ति का वारिस ठाकुर जी-सा सुयोग्य पात्र उन्हें और कौन मिल सकता था ? अतः ठाकुर जी के नाम पर धन का अपव्यय होने लगा।

रम्भावती मथुरा के एक कृष्ण-पंथी गुरु की गुरुमुख थीं। वे अपने पंथ के अनुकूल कृष्ण की भक्ति और पंथ के नियमों को यथाक्रम पालन करती थीं। गुरु-मंत्र लेते ही उन्होंने अपने त्याग को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। नियम-निष्ठा का क्या कहना—किसी व्यक्ति का साया भी पड़ जाता तो तुरन्त ही स्नान और जमुना-जल का आचमन करतीं। गुरु-भाई, बहन के सिवा किसी अन्य व्यक्ति-विशेष के हाथ का जल भी ग्रहण नहीं करती थीं। बाज़ार की मिठाइयाँ, अचार-मुरब्बे

आदि का प्रलोभन भी वे त्याग चुकी थीं। किसी कर्म्मकांडी ब्राह्मण तक का बनाया भोजन ग्रहण करना भी उनकी अपार निष्ठा और पंथ के विरुद्ध बात थी।। कहारी यदि तुलसी की माला गले में डाले बिना बर्तन छू लेती तो महा अनर्थ हो जाता—मिट्टी का घड़ा, सुराही आदि भङ्गिन के हवाले किये जाते और धातु के बर्त्तन इक्कीस बार ज़मुना-जल में धोकर पवित्र किये जाते थे।

इस अपार निष्ठा के पालन-हेतु उन्हें एक ऐसी नौकरानी की सख़्त आवश्यकता थी जो उनके गुरु से दीक्षा लेकर ठाकुरजी के सेवा-कार्य्यों में सहायता दे सके। ठाकुरजी के निमित्त भोग आदि तो वे सहर्ष बना लेती थीं; किन्तु चौका-बासन झाड़ू-बुहारू उनके सामर्थ्य से परे की बात थी। अतः रम्भावती ने सुधिया को समझा-बुझाकर और गुरु को भेंट-पूजा चढ़ाके उसे गुरु-मंत्र दिलाकर अपनी सेवा में ले लिया।

सुधिया को ऐसा जान पड़ा—मालकिन ने उसे देवत्व की ऊँची सीढ़ी पर बिठा दिया हो, अपनी ही दृष्टि में वह आदर की पात्री बन गई। अब वह एक हाथ में सुमरनी और कमर पर घड़ा रखकर जल भरने निकलती तो उसे ऐसा जान पड़ता—सड़क चलनेवाले अनजान व्यक्ति भी आज उसे आदर भरी दृष्टि से निहार रहे हैं और जाति-बिरादरी वालों का तो कहना ही क्या उसने अपनी बिरादरी को महान गौरव प्रदान किया है।

इस आडम्बर, कृत्तिम वैभव ही ने सुधिया के हृदय में सत्य ही पवित्रता के अंकुर उत्पन्न कर दिये। सुधिया जिसे जान भी नहीं सकी। पुत्र-पौत्रों का मोह छोड़कर वह वृन्दावन चली गई और तन-मन से अपनी स्वामिनी तथा ठाकुरजी की सेवा में तन्मय हुई।

(३)

सुधिया की वृद्धावस्था अब सीमा पर थी। अपार निष्ठा सेवा-भाव के साथ भी कुछ प्रवृत्तियों की अन्तिम चेष्टा उत्तुङ्ग शिखर पर थी। जिह्वा सम्बन्धी लालसाओं की प्रबलता थी और संयम में वार्धक्य बाधक था। कहते हैं बच्चे और बूढ़े समान होते हैं, कुछ ऐसी ही बात थी।

इतने दिनों से जिह्वा पर वश रखनेवाली शक्ति जवाब दे रही थी। मन डाँवाडोल हो रहा था, मस्तिष्क संयम की बात भूलकर प्रवृत्तियों के वशीभूत था। रसोई में मालकिन ठाकुरजी के प्रसाद के निमित्त भाँति-भाँति के पकवान तैयार करती उस समय सुधिया का चचल मन रसोई-घर ही में रम रहता। वह अपने मन की इस कमज़ोरी को अनुभव करती थी और उसे क़ाबू में रखने को उपाय भी कम नहीं करती थी। बुढ़ापे के निर्बल हाथ-पैरों से भी मशीन की भाँति तेज़ी से काम लेने की चेष्टा करती। और काम से फ़ारिग़ होते ही पंखा लेकर बैठ जाती—मालकिन तुम जब तक प्रसाद का बन्दोबस्त करो, मैं भगवान की सेवा कर लूँ।—वह अपने चंचल चित्त को किसी प्रकार भी अवकाश का अवसर देना नहीं चाहती है। कभी सूर के बाल गोपाल को हिंडोला झुलाती, कभी मीरा के गिरिधर नागर को पंखा डुलाती और कभी गोपियों के रास-विहारी को अपनी पोपली आवाज़ और बुढ़ापे के नख-शिख-द्वारा रिझाने की चेष्टा करती; किन्तु मन फिर भी उड़ा-उड़ा घूमता था—मालकिन हलुवे के लिए सूजी भून रही हैं, कैसी महक फैल रही है ? और हलुवे में डालने को मैंने पिश्ते-बादाम भी तो बहुत से काटकर रखे हैं। मखाने की खीर आज बहुत ही स्वादिष्ट बनेगी, दूध अपनी आँखों के सामने दुहाकर लाई हूँ। पानी का नाम नहीं, ख़ालिस भैंस का दूध है, खूब मोटी मलाई पड़ेगी।

ठाकुरजी आज पक्की रसोई जीमेंगे—हलुवा, खीर, मोहनभोग, मक्खनबरा, पकौड़ी, समोसे, साग, भाजी, कचौड़ी, चटनी, अचार। ऐसी ही विचार-धारा में बहकर सुधिया पूर्णतः डूब जाती थी। रुचि की मोहक आकाँक्षाओं में लिप्त होकर वह ज़ोर से कह उठती—मालकिन, समोसों में खटाई भूल न जाना, आले में पीसकर रख आई हूँ ; शीशी में गुलाबजल भी ले आई हूँ, खीर में डाल देना।

मालकिन चिढ़ उठतीं—सुधिया, बुढ़ापे में अब तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। ठाकुरजी की सेवा में बोल उठी। तेरा मन अब मेवा-मिठाइयों ही में रमा रहता है तो सेवा में न बैठा कर। कैसी है तेरी नीयत ?

सुधिया मालकिन के प्रति अकृतज्ञ कभी नहीं हुई। सदैव उसने श्रद्धा-पूर्वक अपने शरीर के दुःख-सुख की चिन्ता छोड़कर तन-मन से उनकी सेवा की है। और वह यह भी नहीं भूलती—उसकी स्वामिनी को भगवान ने ज्ञान दिया है, भक्ति दी है, और गुरु महाराज की उन पर विशेष कृपा है फिर ठाकुर जी की कृपा तो अनिवार्य्य ही है ? वह क्षुद्र इनके सम्मुख किस लेखे में है ? इन्हीं मालकिन की सेवा आधार है, और कृपा बल ! इन्हीं के निहोरे गुरु महाराज उसकी ओर दृष्टि डाल लेते हैं, वरना गुरु के अनेक प्रतिष्ठा-सम्पन्न चेलों में उसकी क्या गिनती है ! और अब तो कभी-कभी गुरु महाराज की महती कृपा भी होती है—सुधिया से अपने चरण भी धुलवा लेते हैं। कई बार सुधिया को गुरु की धोती-अँगोछा धोने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। मालकिन की ऐसी ही कृपा-दृष्टि रही तो कभी-न-कभी उसे शयन में गुरु के चरण दबाने का सौभाग्य भी प्राप्त होकर रहेगा।

गुरु की कृपा ही के सहारे पर आशा है कभी ठाकुरजी भी

प्रसन्न हो जायँ। सुधिया के अन्तस्तल को छेदती हुई एक आह निकलती—ऐसी सेवा कहाँ बन पड़ी है।—और फिर वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्रित करके स्वामिनी की सेवा में दत्तचित्त रहना चाहती थी। प्राण भले ही जवाब दे जायँ; किन्तु प्राण रहते शरीर सेवा की उपेक्षा न करे।

परन्तु ऐसी बातों पर अब वह व्यथित को उठती है, उसकी अन्तरात्मा रो उठती है—कैसी कड़वी बात बोलती हैं—तेरी कैसी नीयत है? मानो रसोई के सारे व्यञ्जन मेरी थाली ही में परोस देंगी। अरे मुझे तो भगवान के प्रसाद के नाम पर तनिक जुबान गरम करने ही को दोगी। बेला-भर के खीर तो अपनी थाली ही में परोसोगी? आज प्रसाद में बहुत दोगी आधा समोसा दे दोगी। चार दिन रखकर मैं तो खाने न जाऊँगी? मुझ गरीबनी को भी ज़िन्दगी में एक बार भगवान के प्रसाद से छका दो तो मेरा कल्याण हो जाय। भगवान की जूठन अमृत है, उसके लिए कौन कल्पना नहीं करता? हे मेरे गोकलेस, तुम्हारे प्रसाद ही के प्रभाव से तो, इस संसार-सागर से पार होऊँगी? और मैंने कौन धर्म-कर्म किये हैं?

फिर कमी काहे की है, तुम्हारा दिया सभी कुछ तो है; फिर भी मैं गरीबनी तुम्हारे प्रसाद को तड़पती हूँ!

सुधिया मालकिन से छिपाकर अपनी इस व्यथा पर बड़े-बड़े आँसू गिराती; किन्तु मुख से कुछ न कहती। वह जानती थी उसकी इस व्यथा को मालकिन नहीं समझतीं। वह सर नीचा किये हुए जाती और मालकिन जो कुछ भी थाली में परस देतीं वह उस प्रसाद को श्रद्धा-पूर्वक उठा लाती। और पृथ्वी पर माथा टेककर भगवान को याद करके भोजन करने बैठ जाती। किन्तु चाहनाएँ कुछ ऐसी प्रबल

हो गई थीं कि किसी प्रकार भी तृप्ति नहीं होती थी। मन उन व्यञ्जनों की विवेचना करके ललचता ही रहता था। आशा के सहारे कान रसोई की ओर लगे रहते। सम्भव है मालकिन पुकारें—ले सुधिया, थोड़ा हलुवा और आधा पापड़। ले, तेरे दाँत नहीं हैं, पराठा कैसे खायगी, दूध पी ले ; परन्तु निराशा ही पल्ले पड़ती थी। अन्त में वह एक दीर्घ साँस लेकर उठ खड़ी होती—हे मेरे गोविन्द !

(४)

सुधिया की सामर्थ्य ने हार मान ली थी। शारीरिक शक्ति जवाब दे रही थी। वह बीमार रहने लगी ; फिर भी जब तक शक्ति का कुछ अंश भी शरीर में रहा, वह मालकिन की सेवा करती रही। लेकिन धीरे-धीरे चारपाई ही लग गई। जाड़ा, बुख़ार, खाँसी ने उसे बेतरह दबा रखा था ; फिर भी आरती के समय वह किसी प्रकार बहू का सहारा लेकर ठाकुरद्वारे तक पहुँच जाती और आरती के गान में अपनी अन्तरात्मा से झंकृत शब्दों में ठाकुरजी को अपनी व्यथा सुना आती और बाकी समय का अधिक भाग शय्या पर पड़े-पड़े रसोई-घर के व्यञ्जनों की व्यञ्जना में व्यतीत हो जाता था।

इधर वैद्य की आज्ञानुसार वह आज-कल ठाकुर जी के प्रसाद से भी वञ्चित रखी जाती थी। सुधिया की बीमारी का समाचार पाकर उसकी संचित कमाई के हक़दार बहू-बेटा सेवा को आ गये थे ; किन्तु सुधिया के लिए पथ्य आदि स्वामिनी ही तैयार करती थीं। कभी बाज़ार से दूध मँगा देतीं, कभी अपनी रसोई में साबूदाना बना देतीं—बेचारी ने मेरी बहुत सेवा की है, अब अन्त समय में उसका दीन-ईमान क्यों जाय ! साथ ही अवसर मिलते ही सुधिया को सावधान भी कर देती थीं—देख सुधिया, किसी का छुआ न खा लेना।

बेटा-बहू कुछ ही कहे और तुझे कैसा ही कष्ट झेलना पड़े, उनके हाथ की छुई कोई चीज़ न लेना। यही तो परीक्षा का समय है। तू इससे पार उतर गई तो समझ ले वैतरणी पार हो गई। फिर तो ठाकुर जी तुझे अपनी शरण में ले लेंगे।

सुधिया रो उठती—मालकिन, ऐसे करम कहाँ बन पड़े हैं ?

मालकिन का उपदेश प्रवृत्तियों के दमन के लिए यथेष्ट नहीं था। चाहनाएँ प्रति क्षण प्रबलता का इज़हार करके संयम का नामोनिशान मिटाना चाहती थीं। सुधिया मन को एकाग्र करके जितना ही ध्यान में निमग्न होना चाहती मन उतना ही चञ्चलता को अपनाने की चेष्टा करता।

एक दिन दोपहर का सन्नाटा था। सुधिया की चारपाई द्वारी में पड़ी थी, और चारपाई पर पड़ी हुई सुधिया का मन ख़याली लड्डू बना रहा था। उसी समय कानों ने सुना—कुल्फ़ी मलाई की बरफ़।

मन हाथ से बेहाथ हो गया। कल्पना ने मन को १५ वर्ष पूर्व के सम्पूर्ण स्वाद का मोहक दिग्दर्शन करवा दिया। रहा न गया, वह धीरे से चारपाई पर उठकर बैठ गई और उसने भीतर के द्वार से झाँका—ख़ामोशी थी। उस ओर से निश्चिंत होकर उसने आवाज़ दी—ओ बरफ़वाले! दिल धड़-धड़ कर रहा था, कहीं कोई आ न जाय, कोई उसकी आवाज़ न सुन ले। साथ ही यह भी चिन्ता थी बरफ़-वाला लौट न जाय। एक बार सम्पूर्ण बल लगाकर उसने पुकारा—ओ बरफ़वाले!

बरफ़वाला अन्दर दाख़िल हुआ और सुधिया ने एक बड़ी-सी कुल्फ़ी खुलवाकर उसे बिदा कर दिया। मन को भली प्रकार कुल्फ़ी का स्वाद ग्रहण करने के लिए एकान्त की आवश्यकता थी। चेतन-

शक्ति इस समय पूर्णतः कुल्फ़ी में डूब गई थी। शरीर का अणु-अणु इस समय कुल्फ़ीमय था। केवल जिह्वा ही नहीं ; मन, प्राण, बुद्धि सभी स्वाद की प्रतीक्षा में थे। इस समय की उसकी दशा उस अबोध बालक के समान थी, जिसके जीवन ने अभी सब्रोक़रार की ओर जाना सीखा नहीं था ; उस दुर्भिक्ष के भूखे के समान थी, जिसने जाने कब से अन्न के एक दाने के दर्शन किये न हों, और उसकी शारीरिक, आत्मिक सभी शक्तियाँ, प्राण-रक्षा-हेतु क्षुधाग्नि को आहुति देने को विकल हों, उतावली हों। एक क्षण भी उन्हें युग के समान हो। क्षुधा की वह आहुति देना इतना आवश्यक हो गया हो कि सब्रोक़रार, शिष्टाचार आदि के तक़ाज़े की किंचित मात्र भी गुंजाइश बाक़ी न रह गई हो।

कुल्फ़ी के दोने का वह स्पर्श सुधिया को ऐसा मधुर, ऐसा मोहक, इतना आकर्षक जान पड़ा कि उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ झंकृत हो उठीं। और शायद वह झंकार चुम्बक के समान आकर्षक थी, बिजली के समान तीव्र थी, तीर के समान प्रखर थी कि अन्तर्जगत तक प्रवेश कर गई। उस झंकार में जाने कैसा जादू था, उसने आत्मा को जाग्रत, चमत्कृत, आलोकित कर दिया। उसे याद आया—भगवान का भोग लगाना है। उसने अत्यन्त श्रद्धायुक्त माथा झुकाकर स्मरण किया और वह बरफ़-रूपी प्रसाद आँखों में लगाकर मुख में रख लिया। आत्मा प्रसन्न हो गई।

सुधिया के पतन की बात छिपी न रही—बहू ने देखा और उस दृश्य से भयभीत-सी होकर वह स्वामिनी को भी बुला लाई। मन-ही-मन सुधिया को धिक्कारती हुई स्वामिनी सुधिया के समीप पहुँची। जो होना था, हो चुका ; किन्तु सुधिया को सावधान करना स्वामिनी का

फ़र्ज है, वे सुधिया से इस महापाप का प्रायश्चित्त करवायेंगी। उन्होंने कहा—छी-छी ; यह क्या देख रही हूँ सुधिया ? फेंक दे !

चोरी खुल जाने से सुधिया घबराई नहीं। वह क्षण-भर पहले की उसकी घबराहट, चोरी का भय जाने कहाँ लोप हो गया था। लज्जा और ग्लानि ने भी उसे नहीं घेरा, और न अधर्म, पाप के भय ने भयभीत ही किया। बल्कि वह दृढ़ता और ताड़ना के शब्दो में बोली—कहती क्या हो मालकिन, भगवान का प्रसाद है। आज भली प्रकार मैं प्रसाद पाऊँगी, अब बाधा न देना।

आज सुधिया कैसे बोल रही है, घमण्ड उत्पन्न हुआ है। इसका इतना साहस ! अपराध-पर-अपराध करके बेशर्म मालकिन की बात का खण्डन करती है। मालकिन उसके रोग की बात भूल गई। उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने झपटकर सुधिया के हाथ से दोना फेंक देने की चेष्टा की। सुधिया ने केवल देख भर दिया। उसकी उस दृष्टि में जाने क्या था। रम्भावती के हाथ में बिजली का झटका-सा लगा, सर में चक्कर आ गया। वे गिरते-गिरते सँभलकर बैठ गईं।

(५)

बरफ़ खाने के बाद से फिर सुधिया ने पानी की बूँद भी ग्रहण नहीं की। बेहोशी में वह असम्बद्ध बातें बकती रही—मैं संतुष्ट हो गई...भगवान की जूठन अमृत है...इत्यादि। लोगों ने कहा बाई है, अब अन्तिम समय समीप जान पड़ता है। मरते समय बेचारी की मति-गति नष्ट हो गई। हे भगवान ! लाज तेरे ही हाथ है। भगवान की कृपा ही से धर्म बचता है। सभी उपस्थित गुरु-भाई-बहनों ने रम्भावती से आग्रह किया—वे गुरु से प्रार्थना करके सुधिया के पाप का प्रायश्चित्त करवा दें।

रम्भावती ख़ामोश थीं। उनके मन में महान् शंका उत्पन्न हो रही

थी। वे समझ नहीं सकती थीं—सुधिया को पतिता समझें या पुनीता! उन्होंने अपनी आँखों से जो दृश्य देखा था, उसने उन्हें चक्कर में डाल दिया था। और उनका मन उस दृश्य की सत्यता को यथार्थ मानने में सदय नहीं होता था किन्तु अपनी आँखों को धोखा भी कैसे दे? वे प्रायश्चित्त के बहाने अपनी शंका समाधान करने गुरु के समीप गईं।

शिष्या को देखते ही गुरुजी बोले—मैं सब सुन चुका हूँ रम्भा; किन्तु कुछ चिन्ता नहीं। मैं अभी चलता हूँ। अन्तिम समम उसे दर्शन देकर प्रायश्चित्त करवाऊँगा, उसकी मोक्ष हो जायगी।

भर्राती आवाज़ से कुछ रुकते हुए रम्भावती बोलीं—महाराज, सुधिया पर तो ठाकुरजी की कृपा हुई है।

विस्मय से गुरु बोले—कृपा हुई है! सो कैसे? यदि गोकुलनाथ की कृपा होती तो बेचारी का धर्म क्यों नष्ट होता?

'नाथ, मुझे तो स्वयं ही महा शङ्का हो रही है। इस पतन की अवस्था में उस पर ठाकुरजी कैसे प्रसन्न हुए? मैंने किसी और से तो नहीं कहा; किन्तु मैंने अपनी आँखों सब देखा है। सुधिया की धर्म-रक्षा-हेतु मैंने चाहा, दोना उसके हाथ से लेकर फेंक दूँ; लेकिन मैंने देखा और सत्य ही देखा, सुधिया के अलावा एक और हाथ भी उस दोने की रक्षा कर रहा था। महाराज, मैं तुमसे क्या दुराव करूँ, मेरे पाप ने मुझे भयभीत कर दिया, माथे में चक्कर-सा आ गया, आँखें स्वयं ही बन्द हो गईं और प्रसन्नता के स्थान पर मेरा मन भयभीत हो गया। कितनी देर तक हृदय जाने कैसा होता रहा, क्या कहूँ? और अब भी उस दृश्य का ध्यान करने से जैसे कम्पन सा होने लगता है। महाराज, मेरा कल्याण कैसे होगा?'

गुरु बोल न सके, आश्चर्य से मुख बाये बैठे रह गये।

गीता

उसका सोहाग सेंदुर पुछे ज़माना गुज़र चुका था। तब वह बालिका थी। अब वह यौवन के उत्तुङ्ग शिखर पर नृत्य कर रही है। धनाढ्य घराने की बेटी है, बहू है। लाड़-प्यार में पली है। विधवा होकर भी विलासिता के वातावरण में रही है। परिस्थितियों ने उसे संयम से परे रखा है।

अपने समय-यापन के लिए उसे किसी साधन की आवश्यकता प्रतीत होती है। किसी प्रकार समय काटे नहीं कटता है। प्रेमपूर्ण उपन्यासों को केवल पढ़ने ही से अब वह सन्तुष्ट नहीं होती है, कोई अभाव उसे विकल रखता है। शायद उसका हृदय चाहता है—यह उपन्यास उसके जीवन में घुल जायँ, मिल जायँ। वह ऐसे ही किसी रस में डूब जाय।

मन चंचल हो उठता है, चित्त उड़ने-सा लगता है। वह कुछ सोचने लगती है और किसी मनवांछित रस-धारा की ओर बहने लगती है ; परन्तु फिर तुरन्त ही याद करने लगती है—वह विधवा है !

गीता भावुक है। चित्त सावधान करने को वह कागज़-क़लम लेकर बैठ जाती है। क्या लिखे, जिससे उसके हृदय को कुछ शान्ति, तृप्ति, सन्तोष मिले ? उपन्यासों-जैसे प्रेम-पत्र लिखने की-सी आकांक्षा का वह हृदय में अनुभव करती है। अच्छा, तो वह अपने मन की स्थिरता के लिए —काल्पनिक प्रेमी को प्रेम-पत्र लिखे ? और उपन्यास ही क्यों न लिखे ? उसके हृदय में सामग्री तो शायद है और प्रचुर मात्रा में है ?

वह लेखनी लेकर बैठ जाती है ; किन्तु असफल होती है। कापी के कुछ पन्ने फाड़कर फेंक देती है। हृदयोद्‌गार फूटे अवश्य हैं ; किन्तु छिन्न-भिन्न हैं, सुन्दरता से पंक्ति-बद्ध नहीं हो सके हैं। और न हृदय को वे पंक्तियाँ कुछ शान्ति ही देती प्रतीत होती हैं।

गीता का देवर विनोद लखनऊ युनीवर्सिटी में बी० ए० का विद्यार्थी है। वह उसे ही एक पत्र लिखकर शान्त होने की चेष्टा करने लगती है। वह अनुभव करती है, उस ओर से उसे कुछ रस मिलता है। उस रस में शान्ति, सन्तोष और तृप्ति की मात्रा मौजूद है ; किन्तु वह उसका उपयोग कैसे करे—वह विधवा है !

चित्त की उद्विग्नता, हृदय की उच्छृङ्खलता के निवारण का उसके पास उपाय विनोद के पत्र ही हैं। पुराने पत्रों की कितनी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं—यह जानकर भी वह भूल जाना चाहती है। हृदय मस्तिष्क से दुराव रखना चाहता है। वह यह जानकर, समझकर भी अनजान, अनभिज्ञ रहना चाहती है—वह विधवा है !

× × ×

विनोद की शिक्षा समाप्त हुई—वह घर आया। यह भाभी कितनी सुन्दर है, कैसी अच्छी है! वह अनुभव करने लगा—पत्रों से अधिक रस उसकी बातों में है। कितनी मिठास है उसकी वाणी में। रूप में कैसा जादू है, हँसी में कितना आकर्षण है! उसका हृदय खिंचने लगा और उसने हृदय को वश करने की चेष्टा भी नहीं की। आधुनिक समाज, आधुनिक शिक्षा और आधुनिक विद्यालय के वातावरण का वह विद्यार्थी प्रेम चाहता था, प्रेमिका चाहता था। यह आयु भविष्य की चिन्ता में संलग्न नहीं होने देती।

दोनो हृदयों के बाँध खुल पड़े। विनोद ने कहा—अनुचित क्या है, मैं तुमसे विवाह करूँगा। प्रेम स्वाभाविक वस्तु है, वह क़ुदरत की देन है। अन्य नाते-रिश्तों का कुछ मूल्य नहीं। प्रेम-सम्बन्ध ही संसार का सत्य सम्बन्ध है। वह अटल है, दृढ़ है और चिरस्थायी है।

गीता को विनोद पर पूरा विश्वास है, उसकी दृढ़ता पर विश्वास है, विद्वत्ता पर विश्वास है; और उसके सदाचार पर विश्वास है। उसने ऊँची शिक्षा पाई है—गीता उसके विचारों की क़द्र करती है। विनोद की वाक्-पटुता ने गीता के हृदय में भी एक प्रकार की क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी; उस क्रान्ति ने लोक-लाज का बन्धन शिथिल कर दिया—घरवाले देख लें, समाज देख ले और चाहे संसार जान ले; वे दोनो प्रेमी हैं, पवित्र प्रेमी हैं। अनुचित क्या है, वे विवाह करेंगे, प्रेम-सम्बन्ध! जो अमिट है, अटूट है और क़ुदरत की देन है।

× × ×

सास ने कुलटा कहा, कुल-कलंकनी कहा; लेकिन सारी भर्त्सना को हृदय की नवीन क्रांति ने पराजित कर दिया। उसे और भी अपने प्रेम पर दृढ़ता प्राप्त हो गई और घरवालों के प्रति विद्रोह।

अन्त में घरवाले भी शान्त होकर परदा डालने की चेष्टा करने लगे—बड़े घर की लाज रखनी है ; परन्तु परिणाम किसी की लज्जा की चिन्ता क्यों करे। महामना सृष्टि-देवी की उसे आज्ञा है—यथा-शक्ति उनके विधान की वृद्धि करना। और आदर्शनीय हिन्दू-समाज की भाँति इस प्रकार की वृद्धि सृष्टि के समाज में शायद दूपित भी नहीं है, इसी लिए निर्माण का यह अवसर मिलते ही योजना प्रसन्न हुई और साधन विचलित हुए...अब तक विनोद यौवन की ख़ुमारी में था। परिणाम की भयंकरता को उस ख़ुमारी ने कल्पना से परे रखा था। अकस्मात् परिस्थिति की इस कटुता ने उसे विचलित कर दिया। प्रेम की मादकता, वीरत्व का जोश, यौवन का उत्साह और सुधारों की क्रांति जाने कहाँ लोप हो गई ? अवसर मिलते ही उस पर कायरता, निर्बलता, भीरुता का प्रकोप हुआ।

व्यक्तित्व की सत्ता खोकर उसका मन अवलम्ब ढूँढ़ने लगा। माता-पिता ने देखा स्थिति अब क़ाबू में है और उन्हें अपनी मर्यादा की रक्षा करनी है। अपनी सुकीर्ति, पुत्र का सदाचार, घर की लाज, कुल की पत और हिन्दू समाज की गौरव-गरिमा की रक्षा करनी है।

किसी प्रकार भी हो विनोद को निष्कलंक प्रकट करना है। वह कुल का दीप है, उससे भूल हुई। अभी लड़का है। उसका दोप नहीं, आयु का दोष है। भूल सुधारी जा सकती है, आख़िर वह पुरुप है।

रही बहू की बात। वह दूसरे घर की बेटी और स्त्री है, विधवा है, पतिता है, उसके सुख-दुःख की चिन्ता व्यर्थ है। उसने पाप किया है, और वह पाप पुरुष का थोड़े ही है जो अनाचार, अत्याचार, अन्याय से धुल जाय ? वह नारी का पाप है, विधवा का ! अबला के पाप का दाग़ है जो चिरस्थायी होता है। कुकर्म तो उसने किया ही है ?

उससे अब उसका उद्धार कहाँ है ? हाँ, यदि वह कुकर्मों पर विजय प्राप्त कर ले, उन्हें ही अपने जीवन का ध्येय बना ले, नारीत्व को ठुकराकर अनाचार, दुराचार, पिशाचनी का रूप धारण करा ले, पाप की पराकाष्ठा खोजे, हृदय से मातृत्व का नाश करके हत्यारनी बने, तो हिन्दू-परिवार उसकी लाज रखने की चेष्टा करेगा ; उसके पापों पर यथाशक्ति आवरण डालने की कोशिश करेगा ।

वह पति-कुल की लाज बचाने का पुरस्कार होगा ।

× × ×

गीता तो पूरी निर्लज्ज निकली । उसने अपनी लाज रखने से साफ़ इन्कार कर दिया । उसने अपने कुकर्मों की विवेचना बुद्धि-द्वारा की, अपने पाप की छाया हृदय-रूपी दर्पण में देखना चाही । और उसने देखा—जो सामग्री अनायास ही पाप बन गई है, उसके अंतरङ्ग में पाप की छाया-मात्र भी नहीं थी । मक़सद क्या था—वह ठीक नहीं पहचान सकी, ठीक नहीं जान सकी । वह यौवन की उमङ्गों में भूल रही थी, यौवन के ख़ुमार में बेसुध-सी हो रही थी और प्रेम की सरिता में वह सर्वथा डूब गई थी । फिर भी जहाँ तक स्मरण है, जहाँ तक वह जान सकी है, पहचान सकी है—वह मानवीय प्रेरणा थी, प्रवृत्तियो की पुकार थी, यौवन की आवाज़ थी और क़ुदरत का तक़ाजा था । और सबसे अधिक उस मानव-हृदय की स्वाभाविक तृष्णा का जादू था—जिसे कहते हैं प्रेम !

उसे प्रेम ने पागल कर दिया था, उन्मत्त कर दिया था, वह उस मद में पूर्णतः बेहोश थी । उस पापी प्रेम ने हृदय में वह नशीली मदिरा उत्पन्न की, जिसके सुरूर की चाहना में वह सब कुछ भूल गई । हाँ, अपराध था, भूल थी ; वह भूल गई— वह विधवा है । हिन्दू-

समाज की आदर्श नारी है ! विधवा का ध्येय त्याग है, सयंम है, साधना है, भक्ति है, संन्यास है। वह अपने पथ से विचलित हो गई है, आदर्श से गिर गई है, विधवा के कर्तव्य से च्युत हो गई है। सती सावित्री की कथाएँ रट-रटकर वह आदर्श पर क़ाबू नहीं पा सकी, अपने प्रखर प्रेम-प्रवाह को मीरा की प्रेम-धारा में परिणत नहीं कर सकी। सांसारिक प्रलोभनों में भटकता हुआ मस्तिष्क ज्ञान की छान-बीन नहीं कर सका।

प्रवृत्ति ने आरम्भ ही से उसे चेष्टा-रहित नहीं बनाया है और संसार ने अपने नियमों की फ़िलासफ़ी का दिग्दर्शन भी नहीं कराया है और चारो ओर के वातावरण ने संन्यास का सन्मार्ग भी नहीं दिखाया है। यह सब कुछ सही, फिर भी उसने भूल की, अपराध किया; किन्तु पाप कहाँ किया ? उसने जो कुछ किया, वह हिन्दू-विधवा के लिए, हिन्दू-नारी के लिए, हिन्दू-समाज के लिए अनुचित सही ; किन्तु पाप नहीं था। उसमें धोखा, स्वार्थ, अनाचार की गन्ध नहीं थी।

गीता उसे पाप नहीं मानती—वह प्रेम था, पवित्र प्रेम था। हाँ, संन्यासी का प्रेम नहीं, मानव का प्रेम था, नारी-हृदय का प्रेम था, सरल, निर्मल, सत्य प्रेम था।

और आज भी तो हृदय में उसका अभाव नहीं है, बल्कि उस प्रेमाग्नि की ज्वालाएँ और भी तीव्र प्रतीत होती। हाँ, उसमें अब वह निर्मलता, पवित्रता, सरलता नहीं, मुग्धता नहीं है। अब वह केवल आग है। और ऐसी प्रचण्ड आग है, ऐसी ज्वलन्त है कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भस्म कर देना चाहती है।

उस आग में प्रतिशोध की लपटें भी रह-रहकर उठती हैं। विनोद उसकी धारणा के विपरीत मनुष्य निकला। जिसे देवता माना

था उसने पिशाच का कार्य किया है, अनेक प्रकार से आशा, विश्वास, बल, साहस दिलाकर उसने धोखा दिया है। वह पाखण्डी है, दम्भी है, कायर है। फिर भी गीता प्रतिशोध की लपटों को शान्त करेगी, उन ज्वालाओं को बुझायेगी। उसी आग से उस मुग्धा नारी को बल मिला है, जिसने उसके हृदय से प्रेमी के लिए सर्वस्व बलिदान की भावना मिटाकर—विद्रोह, क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। उसी अग्नि ने स्त्रीत्व, मातृत्व, स्वाभिमान की रक्षा के हेतु शक्ति प्रदान की है। और उसी शक्ति के सहारे उसने दृढ़ता प्राप्त की है—मैंने न पाप किया है, न करूँगी।—कष्ट की बिजलियाँ टूटें, विपत्तियों के तूफ़ान आयें, अपमान-उपहास का अन्त हो जाय; परन्तु मातृत्व पर कलंक-कालिमा लगने न पाये।

× × ×

प्रसव-वेदना से छटपटाती हुई गीता द्वार-द्वार स्थान की भिक्षा माँग आई; परन्तु अपमान, अनादर, उपहास के सिवा उसे इस दशा में भी कुछ नहीं मिला। घरवालों ने विनोद को कुछ दिनों के लिए प्रवास में भेजकर गीता को घर से निकाल दिया। इतने दिन वह अपना कलङ्कित मुख छिपाये जाने कहाँ रही। लोगों ने समझा गङ्गा में डूबकर उसने अपनी लाज बचा ली होगी; परन्तु वह निर्लज्ज आज अपने सम्पूर्ण कलंक को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर बेशर्मी से समाज के सामने एक सुरक्षित स्थान को अपील कर रही है। मातृत्व आनेवाले शिशु की ममता में लज्जा को भूल गया है। वह लज्जा भी सह लेगा, अपमान, अनादर, लांछना के शब्द भी मस्तक नत करके ग्रहण कर लेगा। उपहास की वेदना भी बरदाश्त करेगा, सब कुछ स्वीकार है, केवल उसे थोड़ा-सा स्थान चाहिये, किसी गृहस्थ की तनिक-सी सहानुभूति चाहिये। जहाँ उसके जीवन का अवलम्ब, उसके भविष्य का आनेवाला

प्रकाश, उसके सन्तोष-सांत्वना का एकमात्र आधार, उसके हृदय का कण, नारी-हृदय की सम्पूर्ण ममता की प्रतिमूर्ति, उसके आनेवाले शिशु का जीवन सुरक्षित रहे। गीता वह स्थान चाहती है, जहाँ मनुष्य की पुण्यात्मक, भावनाएँ तक़ाज़ा करें—पाप की इस निधि अबोध बालक पर भी फटा-पुराना कपड़ा डालना आवश्यक है। जहाँ सुकुमार बालक के सूखते होठों में घूटी की दो बूँद टपकाने को मनुष्यता मजबूर हो।

इस उपकार के ऋण-स्वरूप गीता जीवन-भर उसकी गुलामी करने को तैयार है ; परन्तु कुलटा को स्थान देकर कौन उसके पाप का भागी बने ? कलंक-कालिमा का दाग़ स्वयं भी लगाये ? निर्लज्जा की लाज की, जीवन की और उसके पाप की निधि की चिन्ता हिन्दू-समाज नहीं करता।

किन्तु कालिमा की साम्राज्ञी निशा-सुन्दरी ने अपना अञ्चल फैलाकर कलंक-कालिमामय अबला की लाज बचाने की चेष्टा की। और उषा के आगमन से पूर्व ही, गंगा के ज़नाने घाट पर झाड़ू लगानेवाली भङ्गिन ने पुलिस में इत्तला की। बेहोश गीता एक सिसकते शिशु को छाती से दबाये हुए अस्पताल पहुँचाई गई। दो-चार दिन तक वह समाज की टीका-टिप्पणी का विषय बनी रही, फिर उसका क्या हुआ, किसी को नहीं मालूम।

× × ×

कई दिन से एक पगली कानपूर की सड़कों पर घूमती दिखाई देती है। वह निर्दयता से अपने हृदय-स्थल पर हाथ से ईंट-पत्थरों से चोट करती है, हृदय को दबाती है, मसोसती है और करुण चीत्कार के साथ हृदय से जवाब तलब करती है—कहाँ है मेरा बच्चा ? तू ही ने खा लिया, मैंने तेरे ही पास तो सुलाया था।

पहचाननेवालों ने जान लिया—वह पगली ही गीता का पाप है। किन्तु कुछ लोगों की धारणा है, वह हिन्दू-समाज का प्रतिरूप है।

कैलासा दीदी

'निहारो कैलासा दीदी ! तनिक निहारो। तुम्हार बेटवा कस मुलुर-मुलुर ताक रहा है। तनुक निहारौ ना !' कैलासा दीदी ने फिर भी न निहारा बल्कि और मुँह बनाकर गर्दन फेर ली। सुभद्रा का अपभ्रंश सहोद्रा नामवाली नवजात शिशु की मा फिर भी कैलासा दीदी को मनाती ही रही—दीदी, तुम्हार चिरौरी करी, माथ छुई, तनिक तौ निहारो, रुठी तो हमसे हौ, बेटवा तुम्हार का बिगारिस है ? ओहकी ओर काहे नाहीं निहरतेउ दीदी ?

मुँह लटकाये हुए आख़िर कैलासा दीदी बोली—हमार नजर है नकारा, एही मारे भइया काहू केर बिटिया-बेटवा ना निहारब। भगवान् तुम्हार बेटवा का राजी रक्खे।

हँसकर सहोद्रा ने कहा—दीदी, तुम्हार नजर नकारा है तो काहू गैर के बेटवा का न देखौ। अपने बेटवा का तो निहारौ।

'नाहीं-नाहीं हमका न चाही।'

'का ह्वैगा तुमका दीदी! बहुत भा, जब बेटवा के बियाहे माँ रिसाय लिहौ।'—सहोद्रा ने बच्चे को कैलासा की गोद में डाल दिया। किन्तु कैलासा का हृदय फिर भी न पसीजा, झटककर उसने बच्चे को फिर सहोद्रा की गोद में डाल दिया और उठ खड़ी हुई। बच्चा इस झटका-पटकी से रो उठा। साथ ही अपमान की चोट से माता का हृदय भी रो उठा। और मातृ-वात्सल्य के अभिमान ने उस अपमान की सीमा बहुत ही बढ़ा दी।

सहोद्रा सोचने लगी सचमुच दीदी का हृदय पत्थर से कम कठोर नहीं है। मोहल्लेवालियों का कहना सच ही है कि वह कर्कशा है। दीदी का वास्तविक रूप मैंने आज ही देखा। मेरे बच्चे से इसे इर्ष्या होती है, तो मुझे ही क्या पड़ी है जो अपने लाल को किसी के पैरों डालने जाऊँ! अब भूलकर भी मनाने की चेष्टा न करूँगी।

इस प्रकार आज मित्रता के पवित्र स्नेह का अन्त हुआ और मनोमालिन्य की विजय हुई।

(२)

लड़ाई की कला में विख्यात कैलासा दीदी अपनी भनेली सहोद्रा पर प्राण न्योछावर करने को तैयार रहती थी, अभी इस बात को बहुत दिन नहीं हुए। यह तो जीवन में पहला अवसर है जो सहोद्रा दीदी को मना रही है वरना नित्य सहोद्रा को मनाना कैलासा दीदी की दिन-चर्या थी।

कैलासा दूसरे से चाहे कितना ही लड़ ले; परन्तु इस घटना से पहले

कभी उसका सहोद्रा से झगड़ा नहीं हुआ। ईर्ष्या रानी मौक़े की ताक में तो थीं ही, मौक़ा मिला और उन्होंने अपना आक्रमण किया।

× × ×

कैलासा और सहोद्रा दोनो एक ही गाँव की लड़की थीं और एक ही गाँव में ब्याही थीं। दोनो ही के पति कानपुर आकर लालइमली मिल में बारह-बारह रुपए मासिक के नौकर हुए। दोनो सहेलियों के क्वार्टर पास-ही-पास थे। हृदय की समानता के साथ-ही-साथ उनके जीवन में भी समानता थी; किन्तु आज वह नष्ट हो गई।

कोई देवी-देवता ऐसे बाक़ी न थे जिनकी कैलासा ने मनौतियाँ न मानी हों। किसी प्रकार वे दोनो एक पुत्र का मुँह देख लें। गंगा माई से पैरी चढ़ाने का वायदा था, तपेश्वरी देवी में सोने की ईंट और हनूमानजी का पूरे पाँच सेर का रोट बोला था।

देवताओं को भी जाने क्या सूझी, सहोद्रा को तो पुत्रवती बना दिया, जिसे कैलासा के समान पुत्र की इच्छा न थी, और कैलासा की गोद खाली ही रह गई।

जिस समय सहोद्रा ने, पुत्र होने की आशा है, ऐसी ख़ुश-खबरी दीदी को सुनाई, दीदी के मुँह का रंग उड़ गया। एक हल्की साँस भर-कर कैलासा स्तब्ध रह गई। उसकी आँखों में कोई नवीन झलक दिखाई दी। चेहरे पर एक विलक्षण लहर-सी दौड़ गई जिसे आज तक सहोद्रा ने कभी न देखा था। और कुछ देर बाद 'अच्छा' कहकर अपनी गर्दन झुका ली।

सहोद्रा को आश्चर्य हुआ, दीदी ने इस समाचार को जिसके लिए उसका हृदय व्याकुल रहता था, सुनकर प्रसन्नता क्यों नहीं प्रकट की?

क्षण-भर को एक विचार-लहरी सच्चाई की झलक दिखा गई—उसे इस ख़बर से धक्का लगा।—किन्तु सहोद्रा ने उसे टिकने नहीं दिया। दीदी से बढ़कर इस समाचार से प्रसन्न होनेवाला संसार में दूसरा कौन है? दीदी को नज़र-गुज़र का बहुत विचार है, सम्भव है इसी लिए उसने प्रसन्नता को दबा लिया हो। हाँ, ठीक है, यही बात है।

सहोद्रा सन्तुष्ट हो गई। कैलासा ने भी अपने मनोभावों को प्रकट न करने की जी-जान से चेष्टा प्रारम्भ कर दी। सहोद्रा की तबीयत ख़राब रहने लगी। खाना-पीना छूट गया, उसे चारपाई से उठना भी दुश्वार जान पड़ने लगा। कैलासा ने उसके घर के सारे काम का भार अपने ऊपर ले लिया। सहोद्रा से कुछ मतलब ही न था। जिस समय सहोद्रा कोठरी में पड़ी हो तो कैलासा पहले ही की भाँति पूर्व-प्रेम में पगी हुई उसका सारा काम करती, चूल्हा जलाती हुई वह बाहर ही से पूछती—सहोद्रा बहिनी, का खइहौ? जो मन होय बनाय देई।

सहोद्रा अपनी रुचि के अनुसार दीदी पर प्रेम के नाते हुकूमत करती और दीदी तुरन्त ही उसके हुक्म को बजा लाती। फिर भी सहोद्रा को दीदी से यह शिकायत थी, वह अब सहोद्रा के समीप बहुत कम आती है, सारा काम करते हुए भी मानो वह कुछ आँख-सी चुराती है। इस शिकायत का उत्तर वह सदैव इस प्रकार देती है—काम के कारण आजकल अवकाश ही नहीं मिलता है।

जब प्रसव के दिन समीप आये तो कैलासा बड़ा साहस करके एक दिन सहोद्रा के पास गई और आँखें नीची करके बोली—सहोद्रा, गाँव में तेरी एक जेठानी है, उसे बुला ले। ऊपर का काम तो मैं सँभाल लूँगी; किन्तु सौरी का काम मेरे बस की बात नहीं है। मैं क्या जानूँ बच्चे को कैसे दूध पिलाना होता है, उसके लिए क्या-क्या करना होता है, मैं कुछ नहीं जानती।

यह बात कुछ बेजा नहीं थी ; किन्तु कैलासा के हृदय की सच्चाई उसकी आँखों द्वारा टपकी पड़ती थी। सहोद्रा के मन में एक प्रकार का सन्देह-सा होने लगा, उसका हृदय कुछ नवीनता का अनुभव करने लगा--दीदी में कुछ परिवर्त्तन हो गया है। क्यों? कल्पना-शक्ति कितना अधिक मसाला इस 'क्यों' को हल करने के लिए एकत्रित कर-लाई। परन्तु सहोद्रा ने उस कल्पना-दूती का तिरस्कार कर दिया। पर वह अपने हृदय से शंका को भी निर्मूल न कर सकी। इस कारण इस बात को अधिक न बढ़ाकर उसने चुपचाप अपनी जिठानी को बुला लिया।

(३)

पुत्र का मुख देखकर कैलासा का हृदय प्रफुल्लित क्यों नहीं हो उठता? बच्चे की सुन्दर आँखें देखकर उसकी आँखें छलछला क्यों आती हैं, और क्यों उसके मुख पर स्याही-सी दौड़ जाती है? इन प्रश्नों का उत्तर कोई कैलासा से तलब करे तो वह क्या उत्तर देगी? वह चाहती है, मैं अवसर ही क्यों दूँ, जो किसी को ऐसी बात के पूछने का साहस हो! पूछना तो दूर रहा, किसी को उस पर आशंका करने का अवसर ही न मिले।

मनोभावों पर परदा डालने का सबसे सुन्दर उपाय कैलासा के मस्तिष्क में यही आया, वह इसी बात को लेकर रूठ गई। मुझ पर विश्वास न करके सहोद्रा ने इस जेठानी को बुला लिया। इतने दिनों मैंने जी-जान से इसकी सेवा की। क्या मैं सौरी का काम नहीं बजा सकती? सदा से कोई बच्चे पालना थोड़े ही जानता है! मैं तो उसके मन की बात पहले ही जान गई थी इसी से मैंने स्वयं ही कह दिया था, जिठानी को बुला लो। मेरे कोई अपना बालक तो है नहीं, दूसरे

के बच्चे से मुझे जलन होती है। मैं बच्चे को नज़र लगा दूँगी—इस योजना ने सचमुच कैलासा के मनोभावों पर बहुत कुछ परदा डाल दिया ; किन्तु अधिक दिन नहीं। अब तो टोले-मोहल्लेवाली भी जाने कैसे सब बातें समझ गई हैं। वे लोग उसे देखकर परस्पर इशारा करके मुस्कराती हैं। उनकी मुस्कराहट देखकर कैलासा को बड़ी व्यथा होता है ; किन्तु करे क्या ? यदि लड़ाई छेड़े तो यह पर्दा फ़ाश हो जायगा। अभी सब उसके मुँह पर कहने लगेंगी तू अपनी भनेली के बालक को देखकर जलती है। कैलासा ख़ूब जानती है, उसका पक्ष कितना कमज़ोर है। इस दलील में वह जीत नहीं सकती ; यों तो आजतक कोई उसके सम्मुख ठहर नहीं सका है। अपनी वाक्यपटुता से झूठ को सच और सच को झूठ कर देने में वह बड़े-बड़े वकीलों को मात कर सकती है। किन्तु न मालूम क्यों इस मामले से वह डरती है।

इसी प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो गये। उन दोनों सहेलियों में मेल नहीं हुआ। अब कुछ छिपी बात नहीं है। सब जानते हैं उन दोनो में अनबन है। दोनो ही इस लड़ाई के कारण शर्म भी काफ़ी उठा चुकी हैं। लोगों के ताने-तिशने 'तुम में तो पहले बड़ा मेल था' इत्यादि सीमा पार करके समाप्त हो चुके हैं। इस लड़ाई में दुराव की आवश्यकता किसी को प्रतीत नहीं होती है।

(४)

सहोद्रा तो अपने पुत्र की बाल-क्रीड़ाओं में मानो सारे संसार को भूल गई है ; किन्तु कैलासा पर कैसी गुज़र रही है, यह वही जानती है। जो देवी-देवता बाक़ी रह गये थे, इसने उनकी भी मनौतियाँ कर डालीं, पर सब व्यर्थ गईं। सहोद्रा से भी अब बोलचाल नहीं है, अब तक उसे लेकर वह अपना अभाव बहुत कुछ भूली-सी थी। अब वह भी साधन

नहीं रहा। दिन-रात की कुढ़न और जलन का ही साथ रह गया।

मोहल्ले-पड़ोस की स्त्रियाँ सदा से ही उससे नाराज़ थीं; अब तो सबने उसे और भी बुरा समझ लिया है। कौन माता बालकों से डाह करनेवाली स्त्री से घृणा न करेगी? स्त्रियाँ तो यों ही वन्ध्या का मुँह देखना पाप समझती हैं। कैलासा किसी ओर जाने की चेष्टा भी नहीं करती, वह जानती है—स्त्रियाँ अपने बच्चों पर उसका साया भी पड़ने देना नहीं चाहतीं। यदि बच्चे खा रहे हों, और कैलासा उधर से निकल जाय, तो बच्चों की मा आँचल से खाना ढक लेती हैं और कैलासा के नाम पर कुछ खाना निकालकर फेंक भी देती हैं। कैलासा का हृदय मर्माहत हो उठता है। वह सब से अलग अपनी कोठरी में पड़ी हुई आँसू बहाया करती है। आज उसके भी एक बालक होता, तो वह यह उपेक्षा क्यों बर्दाश्त करती। यही नहीं, उसका पति भी उससे अप्रसन्न रहता है। सुभद्रा और कैलासा के मनोमालिन्य में वह कैलासा ही को अधिक दोषी ठहराता है।

कैलासा अपनी आँखों से देखती है—पति उसकी परवाह न करके सहोद्रा के बच्चे को खेलाता है, प्यार करता है, और कभी-कभी एक-आध पैसे की मिठाई भी लेकर उसे दे देता है। सहोद्रा मिठाई ले लेती है; किन्तु इस बात का सदैव ध्यान रखती है—कैलासा ने देख तो नहीं लिया है!

पुत्र-हीना कैलासा को सबसे अधिक दुःख उसी समय होता है, जब पति उसकी उपेक्षा करके बच्चे को खेलाता है। वह अपने ईर्ष्या-मय हृदय को दोष नहीं दे पाती। अपने हृदय की इस आग का कारण तो वह पुत्र का अभाव ही समझती है और दिन-रात उसी अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में जला करती है।

बहुधा बच्चे की तोतली बातें सुनकर उसका हृदय अन्दर से ललक उठता है। मन चाहता है—बच्चे को खींचकर अपनी छाती से लगा ले; किन्तु अब किस आधार पर इतना साहस हो? सभी जान चुके हैं, वह सहोद्रा के पुत्र से ईर्ष्या करती है। उसका पति तक भी यही बात कहता है।

× × ×

कैलासा के बूढ़े ससुर की मृत्यु हो गई। गाँव में खेत-खलिहानों की फ़िक्र करनेवाला अब कोई न रह गया। वहाँ की सारी सम्पत्ति नष्ट हो जायगी—इस विचार से उसका पति नौकरी छोड़कर फिर गाँव में आकर बस गया।

कानपुर से चलते समय कैलासा की आँखों से आसुओं की झड़ी किसी प्रकार रुकती नहीं थी। सारी ही पुरानी स्मृतियाँ एक-एक करके हृदय-पटल पर अंकित हो गईं। उसका दिल चाहता था—इतने दिनों के मनोमालिन्य पर किसी प्रकार परदा पड़ जाय, तो शायद इसी समय उसके हृदय की सारी व्यथा मिट जाय—उसका मुख उज्ज्वल हो जाय। दोनों सहेलियाँ किसी प्रकार फिर सहेलियाँ बन जायँ। इतने दिनों वे जिस स्थिति से गुज़री हैं, वे सारी ही स्मृतियाँ किसी प्रकार भूल जायँ—शीशे की भाँति नष्ट होकर चूर-चूर हो जायँ; किन्तु कैलासा के पास इस वातावरण के बदलने का कोई उपाय न था। किस मुँह से वह सहोद्रा के पास जाय? सहोद्रा का बच्चे को लेकर मनाने का स्मरण करके आज वह आठ-आठ आँसू रो रही थी।

दीदी के आँसू सहोद्रा से छिपे न रहे। उसका हृदय भी पूर्व-स्नेह से मर्माहत हो रहा था, कैलासा के आँसुओं ने उसे और भी पिघला दिया। चलते समय वह धीरे-धीरे इक्के के समीप आकर खड़ी हो गई।

कैलासा मुख से कुछ न बोली; किन्तु सहोद्रा को छाती से लगाकर फूट-फूटकर रोने लगी। फिर भी उसका हृदय शान्त न हुआ। उस समय भी उसके हृदय में धक्का लगा। सहोद्रा अकेली ही आई है, बच्चे को नहीं लाई। इक्के पर बैठकर भी उसने एक बार ललचाई आँखों से चारो ओर देखा; किन्तु बच्चा कहीं दिखाई न दिया। सम्भव है, सुभद्रा ने जानकर ही कैलासा की दृष्टि से बचाने के लिए उसे छिपा दिया हो।

गाँव आकर भी दो वर्ष व्यतीत हो गये। कैलासा का अभाव न मिटा। दिन-पर-दिन पुत्र की आकांक्षा उसके हृदय में प्रबल होती जाती थी। इस अभाव से सारा संसार उसके लिए सूना था।

एक दिन सन्ध्या के समय गाँव के चौपाल में बड़ा कोलाहल मचा। स्त्री-पुरुष सब वहीं जमा हो गये। हरवंश ग्वाला गङ्गा में बहते हुए एक बच्चे को बचा लाया था। गाँववालों की सेवा और ईश्वर की अनुकम्पा से बच्चे के प्राण बच गये। अब इस बच्चे का क्या हो? इसी प्रश्न को लेकर सब लोग परस्पर विचार कर रहे थे।

उसी समय गाँव के बूढ़े चौधरी रग्घू काका की नज़र समीप ही खड़ी कैलासा पर पड़ी। वह निर्निमेष दृष्टि से बच्चे के मुख की ओर निहार रही थी। उसकी ललचाई आँखों और गम्भीर मुख-मुद्रा से बूढ़े चौधरी का हृदय भर आया, साथ ही उसके मस्तिष्क ने छिड़े हुए मसले को भी हल कर दिया।

इच्छा होने पर भी जो बात कैलासा अब तक न कह पाई थी, उसके हृदय की वही बात चौधरी ने गाँववालों के सम्मुख पेश कर दी और सब की स्वीकृति से वह बच्चा कैलासा को दे दिया गया।

पुत्र को पाकर कैलासा का सारा अभाव दूर हो गया। उसकी

सारी कामनाएँ पूरी हो गईं। जीवन ही दूसरा हो गया। कुछ दिनों तक तो बच्चा 'अम्माँ, दादा' करके रोता रहा; किन्तु अब तो वह सब कुछ भूलकर कैलासा को ही अपनी मा समझने लगा था।

× × ×

आज कैलासा के घर बड़ी धूम-धाम थी। सारे गाँव का न्योता था। घर के भीतर औरतें ज़ोर से ढोलकी पीट-पीटकर गाना गा रही थीं।

कैलासा भीनी मुस्कराहट के साथ बच्चे को गोद में लिये काम में व्यस्त थी। साथ ही उसकी आँखें द्वार की ओर लगी थीं। इस सुखद अवसर पर सहोद्रा को कैसे भूल सकती थी। कानपुर से चलते समय ही वह अपना हृदय बहुत कुछ साफ़ कर चुकी थी। और पुत्र को पाकर तो वह यह बात भूल ही गई थी कि उसमें और सहोद्रा में किसी प्रकार का मनोमालिन्य हुआ था। उसने बड़े चाव से पत्र लिखवाया था।—बहिनी तुम्हरे भैने की बरही है।

सहोद्रा के आने में जितनी ही देर होने लगी कैलासा का मन मलीन होने लगा। वह सोच रही थी, सम्भव है सहोद्रा न आये। एक दिन उसने मेरी कैसी ख़ूशामद की थी। वह बात शायद सहोद्रा भूली नहीं।

कैलासा के हृदय में इस समय सहोद्रा के प्रति प्रेम की धार उमड़ी पड़ती थी। वह अपनी मनोवृत्ति को तो इस समय सौ-सौ बार धिक्कार रही थी— मैंने बड़ी भूल की जो सहोद्रा को एक पत्र ही लिखवाकर रह गई। मुझे स्वयं कानपुर जाकर उसे मना लाना चाहिये था। बच्चे को पैरों पर डालकर यदि मैं कहती—सहोद्रा, तेरे चले बिना काम न होगा, तो हारकर उसे आना ही पड़ता।

उसका क़सूर नहीं है, दोष मेरा ही है। सत्य ही मैं उसके बच्चे को देखकर जलती थी।

कैलासा इसी उधेड़-बुन में लगी थी कि सहोद्रा ने घर में प्रवेश किया। बालक को कैलासा की गोद में देखकर वह क्षण-भर स्तब्ध रह गई; फिर झपटकर बच्चे को उसने छाती से दबा लिया और बेसुध-सी हो गई।

बालक के अबोध हृदय में भी कोई सोई स्मृति जाग पड़ी। वह भी सहोद्रा के हृदय से चिपटकर एक टक उसका मुख ताकने लगा।

सब जानकर भी कैलासा ने वैसे ही धूम-धाम से बच्चे की बरही की। सहोद्रा कहने लगी—दीदी, हम तो भय्या का खोय चुकिन रहा; तुम्हरे भागन ही यहका दूसर जनम भा है।

कैलासा कहने लगी—बहनी, भय्या सदा ही से हमार रहा। मोरी आँखिन पर पाथर पड़गे रहैं। अब कानपुर चलके गंगा माई का पेरी चढ़ाउब।

दोनो सहेलियों ने एक साथ बच्चे का मुख चूम लिया। दोनो हृदय आज फिर एकता के बन्धन में बँध गये।

कैलासा ममता-वश गाँव की सम्पत्ति का मोह छोड़कर फिर कान-पुर चली आई।

पिकनिक

बरसात का मौसम, बदली का दिन और फिर इतवार की छुट्टी—इन सारी न्यामतों का उचित उपयोग न करना, कहाँ की बुद्धिमानी है ?

प्रातः आँख खुलते ही सतीश के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा, और उत्तर के रूप में तुरन्त ही उसने 'पिकनिक' का प्रोग्राम निश्चित कर लिया। फिर क्या था, अपनी उतावली को क्षण-भर भी रोक रखना उसके लिए कठिन हो गया। बराबर के कमरे में जाकर उसने सुबोध के मुख पर सुराही उलट दी—अजीब घोंचू आदमी हो ! अरे ऐसा अच्छा दिन सोकर बर्बाद कर रहे हो ?

बेचारे सुबोध ने बारह बजे रात तक पुस्तकों में अपनी मस्तिष्क-

शक्ति का बूँद-बूँद निचोड़ डाला था, और नवीन शक्ति उत्पन्न करने की योजना में उसने अपना प्रोग्राम इस प्रकार बनाया था:—

१—प्रातः दस बजे तक मीठी नींद सोना, फिर आँख खुलते ही लड़के को पुकारकर गरम चाय का एक प्याला चढ़ाना।

२—दस से ग्यारह बजे तक शय्या पर पड़े-पड़े 'वायलिन' के तार टुनटुनाना और बीच-बीच में सतीश तथा सुधीर से गाली-गलौज का 'एटीकेट' बरतना।

३—ग्यारह से साढ़े ग्यारह बजे तक दाढ़ी बनना।

४—साढ़े ग्यारह से साढ़े बारह बजे तक इक्कीस बार गॉडरेज़ सोप का उबटन लगाकर स्नान करना।

५—साढ़े बारह से दो बजे तक अन्य आवश्यक कार्य, जैसे बालों में लेवेंडर की शीशी उलटकर मस्तिष्क को पुष्ट करना, कंघे की सहायता से बड़े आईने के सम्मुख माँग काढ़ने के परिश्रम में व्यायाम करना, पॉमेड और सुगन्धित पाउडर के सेवन से सौन्दर्य-वृद्धि करके अपने को ख़ास अंग्रेज़ साबित कर देनेवाली घड़ी की प्रतीक्षा करना तथा ख़ुशनुमा विलायती लेवेंडर से रूमाल तर करके जेब में रखना, ताकि वक़्त-फ़वक़्त दिमाग़ को तरोताज़गी पहुँचती रहे; इत्यादि।

इन कार्यों से फ़ारिग होकर दस मिनट लड़के को 'एटिकेट' की शिक्षा देना, कुछ देर चहल-क़दमी करना, अपने मकान-मालिक वकील साहब से सबेरे के नमस्ते का फ़र्ज़ अदा करना, तत्पश्चात् टेबिल पर बैठकर अरहर की दाल, आलू का शाक और रोटी खाना।

भोजन के उपरान्त ढाई बजे से चार बजे तक मेडिकल साइन्स को ध्यान में रखकर स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए ताश, कैरम आदि खेलना।

फिर एक घंटा उबटन, पालिश आदि में ख़र्च करना तथा टाई की गिरह ठीक करने में समय के बहुत से भाग का उचित उपयोग करके सूट-बूट से सुसज्जित होकर गिरजाघर की ओर गश्त लगाना और विद्यार्थियों की मनोवृत्ति के अनुसार स्त्रियों के नख-शिख, चाल-ढाल का अध्ययन तथा रूप-राशि की विवेचना करना, फिर किसी सिनेमा-हाउस में बैठकर प्रेम के घात-प्रतिघातों का अवलोकन करके आध्यात्मिक शक्ति एकत्रित करना।

रविवार के दिन इस सारे आवश्यक प्रोग्राम की समाप्ति के उपरान्त फिर वही खाना, पढ़ना, सबेरे कालेज जाने की चिन्ता करना इत्यादि।

सतीश ने सात बजे ही मुख पर सुराही उलटकर उसका सारा प्रोग्राम गड़बड़ कर दिया। अन्य कार्य तो हो भी जायँगे ; किन्तु दिमागी ताक़त एकत्रित होने में तो बाधा पहुँची न ?

सुबोध भुन-भुनाकर एक ज़बान में अनेक सभ्यता से परिपूर्ण गालियाँ समाप्त करके बोला—कौन बेवक़ूफ़ कहता है कि बदली के दिन सोना वक्त बर्बाद करना है ?

सतीश मुस्कराकर बोला—अब सीधी तरह बिस्तर छोड़कर उठ खड़े हो। अधिक झिकझिक करना समय नष्ट करना है। मैंने सोने से भी बढ़िया प्रोग्राम बनाया है।

तीसरे कमरे में सुधीर लेटा हुआ था। इन दोनो की नोक-झोंक सुनकर उसे बिस्तरे पर पड़े रहना अच्छा न लगा, तुरन्त ही घटना-स्थल पर आकर बोला—क्या मामला है यार !

सतीश ने पिकनिक के प्रोग्राम के साथ ही एक और दिलचस्प प्रोग्राम भी पेश किया, जिसे सुनते ही सुबोध तुरन्त बिछौना छोड़कर उठ खड़ा हुआ। नींद पूरी न होने का ग़म दूर हो गया। तीनो मित्र पिकनिक की तैयारी करने लगे।

(२)

कालेज-होस्टल में स्थानाभाव के कारण सुधीर, सतीश और सुबोध एक वकील साहब के मकान के कुछ भाग में रहते थे। बेचारे वकील साहब सीधे-सादे भद्र पुरुष थे। अभी आयु कुछ अधिक नहीं थी और कालेज छोड़े थोड़े ही दिन हुए थे ; किन्तु फिर भी न जाने क्यों युवा-वस्था की स्वाभाविक सरसता उनके स्वभाव से चली गई थी। हर समय अत्यन्त गम्भीर बने रहते थे। अपने घर और कचहरी के सिवा अन्य कार्यों से सम्बन्ध रखना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था।

मनुष्यों की सूरत से मानो उन्हें डर लगता हो। कोई छेड़कर उनसे बात-चीत करने लगता, तो शिष्टाचारवश उत्तर देना ही पड़ता, वरना स्वयं वे किसी को वार्तालाप करने का अवसर ही न देते। कोई जान-पहचान का मिल जाता, तो यथाशक्ति उससे आँख बचाकर किनारा काटने की चेष्टा करते। वैसे स्वभाव में अक्खड़पन नहीं था। किसी से बात चीत करने की बला यदि सर आ ही पड़ती, तो वकील साहब अत्यन्त सरलता और मिठास से बोलते ; फिर भी न-जाने क्यों वे दूसरों से मिलने-जुलने में मुँह चुराते।

इस विद्यार्थी-पार्टी के लिए वकील साहब बड़े कौतूहल के विषय थे—यह कैसे आदमी हैं ? इसी आयु में इतने नीरस क्यों हैं ? एकान्त इतना प्रिय क्यों है ? सदा गम्भीर ही बने रहते हैं, मानो संसार से विरक्त हो रहे हों ?

इन प्रश्नों के हल करने में ये लोग अपना मस्तिष्क ख़र्च किया करते, और कभी-कभी इसी विषय को लेकर तीनो मित्रों में वाक्-युद्ध छिड़ जाता था। कोई कहता—मियाँ-बीबी में बनती नहीं है।

'ख़ासे मूर्ख हो ! न बनने का कोई कारण भी तुम्हें दिखलाई

देता है ? बात कुछ दूसरी ही है। उनकी स्त्री को क्या देखा नहीं है ? पढ़ी-लिखी तमीज़दार मालूम पड़ती है। और खूबसूरत भी है।'

'तो ज़नाब, आप ही अपनी अक्ल का परिचय दीजिये।'

'क्या यह सम्भव नहीं है कि वकील साहब किसी और को प्यार करते हों, और माता-पिता ने उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह कर दिया हो ?'

सतीश ने कहा—हो सकता है, सुधीर, तुम्हारा ही कहना ठीक हो।

किन्तु सुबोध टेबिल पर हाथ पटककर बोला—हरगिज़ नहीं। कदापि ऐसा नहीं हो सकता। वकील साहब के पास दिल ही कब है, जो वे किसी को प्यार करने गये होंगे। वह तो बिल्कुल जले दिल का आदमी है—राख का ढेर !

'तो भाई, फिलास्फ़र होगा !'

'अजी वाह ! फिलास्फ़र होता तो क़ानून की किताबों में मगज़-पच्ची करने जाता ? तुम भी बिल्कुल जंगली ही हो। इतना भी नहीं सोचते कि आज वह फिलास्फ़ी का प्रोफेसर क्यों न बन जाता ?'

'एक बात और भी हो सकती है।'

'वह क्या ?'

'किसी मज़हबी चक्कर में पड़कर योगाभ्यास कर रहा हो !'

'बहुत सम्भव है।'

'अरे यार ! कुछ भी हो, किसी प्रकार इसका रहस्य जानना ही चाहिये ; किन्तु वह पीठ पर हाथ तो रखने ही नहीं देता, बात करने जाओ, तो बिगड़ैल टट्टू की तरह रस्सी तुड़ाता है।'

तीनों मित्र वकील साहब के विषय में इसी प्रकार की कल्पनाएँ किया करते और उनका मज़ाक उड़ाते ; पर साथ-ही-साथ उनसे घनिष्ठता बढ़ाने की भी चेष्टा करते जाते।

वकील साहब के एकान्त-वास में इन लोगों के आने से बाधा पड़ गई थी। पहले तो वे बेचारे बहुत ही घबराये—यह कहाँ की बला मोल ले ली। ये लोग तो मेरा पिण्ड ही नहीं छोड़ते। कई बार तो वे इस प्रकार व्यग्र हो उठे कि इच्छा हुई घर ख़ाली करवा लें ; किन्तु सभ्यता ने स्वीकार नहीं किया।

इन तीनों मित्रों ने प्रातः-संध्या वकील साहब के घर चक्कर लगाना अपना नियम-सा बना लिया। काम के लिए ये लोग वकील साहब का मुँह ही निहारते रहते। उनका बच्चा बीमार हुआ, तो डाक्टर के घर जाना, दावा लाना आदि काम हठपूर्वक इन लोगों ने अपने सर ले लिया। गरज़ यह कि अपनी शिष्टता का सिक्का इन्होंने वकील साहब पर पूर्णतः जमा लिया।

वकील साहब भी आख़िर पत्थर के तो थे नहीं, धीरे-धीरे इन लोगों से बात-चीत करने में उनकी लज्जा और संकोच दूर हो गया ; फिर भी वे इन लोगों से अधिक खुलना नहीं चाहते थे।

आज वकील साहब स्नान आदि से फ़ारिग होकर कुछ जलपान करने की फ़िक्र में थे कि तीनों लड़कों ने आकर घेर लिया और मिन्नत, ख़ुशामद, इसरार आदि से काम लेकर वकील साहब को पिकनिक के लिए तैयार ही कर लिया।

बेचारे वकील साहब क्या करते। छुट्टी का दिन था, कुछ बहाना भी न कर सके। घर में जाकर स्त्री से बोले—वे लड़के किसी प्रकार मानते ही नहीं, मुझे अपने साथ पिकनिक में ले जाने का हठ कर रहे हैं।

'तो चले क्यों नहीं जाते ? घर बैठे-बैठे अपनी तन्दुरुस्ती ख़राब करते हो। जाने अब तुम्हें क्या हो गया है, कहीं जाते-आते ही नहीं ! ऐसी भी क्या शर्म ? इन्सान ही से भूल...'

बीच ही में वकील साहब ने स्त्री को चुप रहने का संकेत किया—वे लड़के पास ही कमरे में खड़े हैं, कुछ सुन लेंगे, तो क़यामत हो जायगी।

वे सचमुच दरवाज़े में कान लगाये थे, बाहर ही से बोले—थैंक्स, भाभीजी, वकील साहब को तैयार करके हमारे साथ खिचड़ी बनाने का सामान भी दे दीजिये।

फिर एक दूसरे के कान में कहने लगे—कोई भारी रहस्य है, 'भूल' का शब्द सुना ?

(३)

पिकनिक-पार्टी गंगा के किनारे एक एकान्त स्थान में पहुँची। स्नान के बाद खिचड़ी पकी, आम लाये गये और सबने ख़ूब आग्रह कर-करके वकील साहब को खिलाया।

अब प्रश्न उठा, क्या किया जाय ? किसी ने कहा, ज़रा सैर की जाय ; किसी ने कहा, ताश खेला जाय। वकील साहब को इन लोगों ने इतना अधिक खिला दिया था कि उनके लिए लेट जाने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। आख़िर यही तय हुआ कि सब लोग लेटकर ही वार्तालाप करें। अब दूसरा प्रश्न सामने आया, वार्तालाप का विषय क्या हो ?

सतीश बोला—वकील साहब, आप आध्यात्मिक विषय पर कुछ कहिये।

वकील साहब इस बात से घबरा उठे, बोले—न भैया, मेरे बस की

यह बात नहीं। तुम लोगों ने मेरे पेट में तो इतना ठूँस दिया है कि बोला तक नहीं जाता, तुम्हीं लोग कुछ कहो।

'तो हम लोग बिना किसी विषय के ही वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं, आप उकतायेंगे तो नहीं?'

'कदापि नहीं; बल्कि आनन्द लूँगा।'

फिर क्या था, दुनिया-भर की अल्लम-ग़ल्लम बातें होने लगीं। बरसात का मौसिम था ही, घटा घिरी हुई थी, सामने नेत्रों को आनन्द देनेवाली कलकल-नादिनी गंगा बह रही थी, आम के वृक्षों पर कोयल कूक रही थी। ऐसे सुन्दर प्राकृतिक वायु-मंडल के बीच में यह पार्टी संसार की सारी चिन्ताओं को भूलकर हास-परिहास में तन्मय हो गई।

वकील साहब इन लोगों की मनोरंजक बातों से अपने को भूलकर आनन्द में विभोर हो गये। बहुत दिन उपरान्त आज मन भरकर हँसे। हँसते-हँसते सबके पेट में बल पड़ गये। आख़िर थककर बातों का क्रम पलटा और गम्भीर विषय प्रारम्भ हुआ।

सतीश बोला—वकील साहब, आप नास्तिक हैं, या आस्तिक?

वकील साहब के मानो कान खड़े हो गये हों, बात टालते हुए बोले—छोड़ो इन बातों को, कुछ और विषय छेड़ो।

लोगों ने ताड़ लिया, सदा यहीं पर वकील साहब किनारा काटते हैं; आज इस बात को समाप्त न होने देना चाहिये।

सुबोध बोला—हम तो नास्तिक हैं; सुधीर, तुम?

सुधीर कान पर हाथ रखकर बोला—राम-राम! नास्तिक शब्द ही सुनकर मैं कान बन्द कर लेता हूँ। मैं तो कट्टर सनातनी हूँ।

सतीश कहने लगा—मैं तो भाई, अब राधास्वामी होने का विचार

कर रहा हूँ। क्यों वकील साहब, आपकी क्या सम्मति है? राधा-स्वामियों ने तरक्की तो बहुत की है।

सुधीर मुँह बिचकाकर बोला—तरक्की! सामाजिक तरक्की की है, आध्यात्मिक तरक्की तो स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है, सभा-समाज से क्या लाभ? वैसे तो जो सनातनधर्म में ख़ूबी है, वह किसी में भी नहीं। क्यों वकील साहब, आपका क्या विचार है?

वकील साहब को बात-चीत का यह क्रम बिल्कुल ही नहीं रुच रहा था। नाक सिकोड़कर बोले—हूँ, यह तो है ही।

इस विषय पर सदा ही वकील साहब गम्भीर हो जाते हैं, इस कारण लड़कों को और भी कौतूहल होता था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वकील साहब इस विषय का ख़ूब ज्ञान रखते हैं और हम लोगों के सम्मुख इस प्रश्न को चलाना ही नहीं चाहते, क्योंकि हम मज़ाक बनाते हैं।

सतीश ने इस बार युक्ति से काम लिया—वकील साहब, आप ख़ामोश रहकर हमारा सारा मज़ा किरकिरा कर देते हैं। आप भी आज़ादी से अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते?

वकील साहब मुख पर प्रसन्नता का भाव लाने की चेष्टा करते हुए बोले—नहीं-नहीं, ऐसा तो नहीं है। मैं ख़ामोश कहाँ हूँ, तुम लोगों की बातों में आनन्द ले तो रहा हूँ।

'तो फिर आप भी बताइये—आप सनातनी हैं, या आर्यसमाजी?

इस बार वकील साहब कुछ अधिक घबरा गये, बोले—भैया, माफ़ करो, मैं इस विषय पर वाद-विवाद नहीं किया करता।

'क्यों, वकील साहब, इस विषय में क्या बुराई है?'

'कुछ भी नहीं; किन्तु मुझे ऐसी बातों में आनन्द ही नहीं आता।'

'ख़ैर, तो जाने दीजिये ; लेकिन आपको रहन-सहन से मालूम होता है कि आप ऐसे ही किसी गूढ़ तत्त्व को हल किया करते है ।'

'और मैं तो आपको योगी समझे बैठा हूँ । आपकी मनोवृत्ति बिल-कुल फ़क़ीरों-जैसी है । नहीं वकील साहब, आप छिपाते हैं । आज तो हम लोग आपसे कुछ उपदेश सुनकर ही मानेंगे ।'

तीनो मित्र वकील साहब के पीछे पड़ गये—ज़रूर ! ज़रूर ! हम लोग आपके इतने समीप रहकर भी अज्ञान में भटका करें ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता ।

'तुम लोगों को हो क्या गया है ? अरे भाई, मैं भी तो तुम्हीं लोगों जैसा एक जीव हूँ, मैं इन बातों को क्या जानूँ ?'

'नहीं वकील साहब, बहुत हुआ, अब हम लोगों को टरकाइये नहीं। आप क्या हैं, यह हम ख़ूब जानते हैं ।'

अब वकील साहब बहुत ही चिन्तित हो उठे, कहीं ये लोग मेरे बारे में कुछ सुन तो नहीं आये हैं, जो इस प्रकार पीछे पड़ गये हैं । बेचारे अपनी शंका-समाधान करने को बोले—अच्छा, तुम लोगों ने मेरे बारे में क्या ख़याल बना रखे हैं ?

लड़के ताड़ गये कि चोर की दाढ़ी में तिनकेवाली बात है । बोले—वकील साहब, आपके विषय में हम लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं; यदि आप नाराज़ न हों, तो हम लोग अपने विचार सुना सकते हैं।

वकील साहब ने सन्तोष की साँस ली, चलो, इन लोगों ने कल्पनाएँ ही की हैं, मेरे बारे में और कुछ नहीं जानते हैं । बोले—नाराज़गी की क्या बात है, कहो न ।

सतीश बोला—वकील साहब, आपकी यह गम्भीरता और विरक्ति

देखकर मेरा अनुमान है कि आप योगाभ्यास कर रहे हैं। वह दिन क़रीब है, जब आप बीबी-बच्चों को छोड़कर चले जायँगे, और हम लोग फिर पछतायेंगे कि ऐसे मनुष्य का साथ पाकर भी हम लोग अज्ञान ही में डूबे रहे।

सुधीर बोला—मेरा ख़याल कुछ और ही है। आपको मैं एक बहुत रहस्यमय आदमी समझता हूँ। आप सबसे अलग रहना चाहते हैं; किसी से अपने मन की बातें नहीं करते, जैसे आप डरते-से रहते हैं कि कोई मेरा भेद न पा जाय, इसी लिए मेरा अनुमान है कि आप किसी 'कान्सपिरेसी' के सरदार हैं।

वकील साहब चौंक पड़े—रहम करो! तुमने तो मुझे बँधवाने की बात सोच रखी है, किसी और से कहना भी नहीं।

सुबोध बोला—माफ़ कीजियेगा, वकील साहब, आप अपने मुँह से चाहे न कहें; लेकिन आपसे अवश्य कोई भयंकर पाप हो गया है, जिसके पश्चात्ताप-स्वरूप आप चिन्तित और लज्जित-से रहते हैं।

अब तो वकील साहब अत्यन्त ही व्यग्र हो उठे—लिल्लाह! बख़्शो, तुम लोगों ने तो मुझे चक्कर में डाल दिया। आख़िर मेरे बारे में ऐसे ख़याल क्यों बनाते हो? सच कहता हूँ, इन बातों में किंचित् मात्र भी सचाई नहीं है।

'तो फिर आप इस प्रकार क्यों रहते हैं? अपने जीवन में ज़रा रस लाने की चेष्टा करिये न। हम लोगों ने तय कर लिया है कि आपकी यह उदासी दूर करके मानेंगे।'

सतीश कहने लगा—वकील साहब, आप सोशलिस्ट हो जाइये।

'नहीं, वकील साहब, आप राधास्वामी बन जाइये।'

'कुछ नहीं, तो हमारे क्लब के मेम्बर ही बन जाइये।'

'अजी, बन जाना कैसा, कल नाम लिख लेना, फिर तो हम लोग इन्हें पकड़ ही ले चलेंगे।'

'न, भाई न! मेरे हाल पर रहम करो। सभा, सोसाइटी, समाज—इन चीज़ों से मैं बहुत घबराता हूँ।'

'आख़िर घबराने का कोई कारण भी हो?'

'कारण? कारण यही है कि मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि कभी किसी सभा-सोसाइटी के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। अपने उसी प्रण को निभाने के कारण तो मैं इच्छा होते हुए भी कांग्रेस के सन् १९३० के आन्दोलन तक में हिस्सा नहीं ले सका।'

अब क्या था, इतनी देर बाद वकील साहब राह पर आये थे। लड़के उनके पीछे लग गये, मानो गुड़ में चींटे चिपक गये हों। बारी-बारी से सभी उसी प्रश्न को दोहराने लगे—बताइये वकील साहब, आपने क्यों ऐसा प्रण किया?

(४)

हैरान होकर बेचारे वकील साहब अपनी कहानी सुनाने को लाचार हो गये; लेकिन डर रहे थे कि सुनकर ये लड़के फिर भी मेरी हँसी ही उड़ायेंगे, और कहीं चारो ओर ढिंढोरा भी न पीटते फिरें, जो गड़े मुर्दे उखड़ने लगें। बड़ी कठिनाई से तो अब ज़रा अपनी शर्म दूर कर सका हूँ।

उधर लड़कों ने सत्याग्रह ठान रखा था। वे घोषणा कर चुके थे कि बिना आपकी कहानी सुने न हम घर जायँगे, न आपको जाने देंगे। तीनो में से एक भी नर्म नहीं पड़ता था। इशारों ही में एक दूसरे को समझा चुके थे कि आज यह शिकार छूटा, तो फिर कठिनाई से क़ाबू में आयेगा।

बेचारे वकील साहब की साँप-छछूँदर-जैसी गति थी। कोई चारा

न देखकर बोले—अच्छा भाई, मेरी राम कहानी सुनो ; परन्तु वायदा करो कि सिवा तुम तीनो के और कोई नहीं जान पायेगा और तुम लोग फिर यह ज़िक्र छेड़कर मुझे लज्जित नहीं करोगे।

लड़कों का मुख प्रसन्नता से खिल गया। सुबोध बोला—मैं अपनी होनेवाली 'वाइफ' की क़सम खाकर कहता हूँ कि किसी से नहीं कहूँगा, और फिर हँसूँ, तो आप मुझे वही सज़ा दें, जो अपने साईस को देते हैं।

सुधीर बोला—मैं इसी धुरिया मिट्टी की क़सम खाता हूँ। अपनी मातृभूमि की धूल-मिट्टी से बढ़कर और क्या होगा ?

सतीश कहने लगा—मैं राधास्वामी होने जा रहा हूँ, इसलिए राधास्वामी दयाल की सौगन्ध खाकर विश्वास दिलाता हूँ कि आपके आदेश का पालन करूँगा। बस, अब आप प्रारम्भ कीजिये, वरना लौटने में देर हो जायगी और आपकी 'वाइफ' चिन्ता करेंगी। हम लोग तो फक्कड़ आदमी हैं।

वकील साहब खीझ उठे—तुम लोग तो अभी से मज़ाक उड़ा रहे हो। भाई, मैं भी ऐसा बुद्धू नहीं हूँ, कभी मैं भी 'कालेज-स्टूडेन्ट' रहा हूँ।

'लीजिये, आप यक़ीन ही नहीं करते। हम लोगों की यह क़समें दिली क़समें हैं। वैसे आप जिस प्रकार आज्ञा करें, हम लोग 'प्रॉमिस' करने को तैयार हैं। सच वकील साहब, हम 'सिरियस्ली प्रॉमिस' करते हैं कि किसी से नहीं कहेंगे और न कभी उस विषय को लेकर आपका मज़ाक उड़ायेंगे, बल्कि आपके अत्यन्त कृतज्ञ होंगे कि आपने हमको उलझन से नज़ात दी।'

सभी ने एक स्वर से इस बात को दोहराया, तब वकील साहब उदास मन से अपनी राम कहानी सुनाने लगेः—

'स्टूडेन्ट लाइफ' में मुझे भी सार्वजनिक कार्यों से बहुत प्रेम था।

किसी सभा-सोसाइटी का मेम्बर बन जाना मैं गौरव की बात समझता था, साथ में अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने की लालसा भी थी। उन दिनों आर्यसमाजियों का बड़ा ज़ोर था। मेरे ऊपर भी रंग चढ़ा। पहले तो समाज के जलसों में जाना शुरू किया। सुन-भर पाता कि किसी समाजिस्ट की स्पीच या शास्त्रार्थ है, तो फिर चाहे कैसा ही आवश्यक कार्य क्यों न हो, मैं उसे ठुकराकर पहुँच जाता। संध्या, हवन आदि मेरा नियमित कर्म था, 'सत्यार्थप्रकाश' का पाठ भी नित्यप्रति करता था।

पहले घर में समाजी विख्यात हुआ, फिर मित्रों में और बाद में तो मैं सारे शहर में पक्का आर्यसमाजी मशहूर हो गया। वास्तव में मैं अपने को ऋषि-सन्तान बनाने की चेष्टा में था। मेरा दृढ़ निश्चय था कि मैं अक्षरशः वेद-वाक्य का पालन करूँगा। ब्रह्मचर्य-आश्रम के धर्म को भली-भाँति पूर्ण करके फिर गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम के कर्म को पूरा करूँगा। इन्हीं विचारों में मैं सतयुग के स्वप्न देखने लगा।

इसी बीच हमारे घर में एक अतुल संग्राम उठ खड़ा हुआ। मेरे अनजान ही में माताजी ने मेरा विवाह तय कर लिया और लड़कीवाले को वचन भी दे दिया। मैंने जब यह बात सुनी, तो मेरे पैरों-तले से पृथिवी सरक गई। ख़ैर, मैंने सारी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने का निश्चय किया। माता-पिता के हठ से मुझे भारत की दीन-हीन दशा पर आँसू आ गये। एक समय था, जब स्वयं माता-पिता अपने पुत्रों को ऋषियों के आश्रम में भेजकर ब्रह्मचर्य रखने में सहायता देते थे, एक यह ज़माना है कि पुत्र को धर्म से विचलित करते हैं!

मेरे यह कहने पर कि ब्रह्मचर्य-आश्रम को पार करके विवाह करूँगा, माताजी ने रो-रोकर घर भर दिया—मैं जीते जी क्या बहू का मुख भी न देख सकूँगी। पिताजी कहने लगे—मैं अपने वचन से नहीं डिग सकता।

लड़की के पिता विवाह का सारा प्रबन्ध कर चुके हैं। इसी मास में विवाह की बात है। पुत्र का यह भी तो धर्म है कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करे।

मैं उस समय भी ऐसे ही धर्म-संकट में पड़ गया था, जिस प्रकार आज तुम लोगों ने मुझे बाधित किया है। पहले तो मैं ख़ूब रोया-पीटा, माता-पिता के चरणों पर सिर रखकर प्रार्थना की, खाना-पीना भी छोड़ दिया ; किन्तु फल कुछ भी न हुआ। माता-पिता भी तो मेरा मन रखने में असमर्थ थे। कोई चारा न देखकर मैं आर्यसमाज के प्रधानजी के पास परामर्शार्थ पहुँचा। सारा माजरा सुनकर वे भी चक्कर में आ गये। आख़िर मेरे प्रश्न पर विचारार्थ मीटिंग बुलाई गई।

मेम्बरगण भी सब हैरान थे कि ऐसी भीषण परिस्थिति में क्या सम्मति दें। वाद-विवाद में बहुत समय बीत गया। विद्वानों में ऐसा घोर शास्त्रार्थ छिड़ा कि कई दिन लग गये, फिर भी वे कुछ निर्णय न कर सके। इसी बीच मेरी ही बुद्धि ने एक उपाय सोच निकाला। मैंने निश्चय कर लिया कि गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य कर विवाह करे लेता हूँ ; पर पचीस वर्षों तक अपनी स्त्री को धर्मपत्नी की दृष्टि से नहीं देखूँगा। इस प्रकार सत्य और धर्म दोनों ही रह जायँगे।

मेरे इस निर्णय पर समाज ने मुक्तकंठ से मेरी प्रशंसा की, और उसी दिन से मैं लोगों की दृष्टि में श्रद्धा का पात्र बन गया। सारा शहर मुझे ब्रह्मचारीजी कहकर सम्बोधन करने लगा। मैं भी अपने आत्म-विश्वास पर खुल खेला। थोड़े ही दिनों में मेरा नाम हो गया। अब मेरा व्याख्यान होता, तो जनसमुदाय उमड़ पड़ता। लोग जानते थे कि मैं अपने अनुभव की बात सुनाऊँगा।

विवाह के उपरान्त दो वर्ष शान्तिपूर्वक व्यतीत हो गये। अभी गौने की रस्म नहीं हुई थी, इसलिए मेरी स्त्री अपने पिता के घर ही रहती थी।

फिर भी मैंने निश्चय कर लिया था कि उसके आने पर भी मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखूँगा। ब्रह्मचर्य के नियमों का मैं यथा-क्रम पालन कर रहा था। रहन-सहन, खान-पान—प्रत्येक बात में मैं इस बात का पूर्णतः ध्यान रखता था कि कहीं किसी प्रकार कोई ऐसी बात न हो, जो ब्रह्मचर्य के लिए बाधक हो।

मैंने पुस्तकों में पढ़ा था—ब्रह्मचारी को अपनी माता तथा बहन के साथ भी एकान्त में बैठना मना है।

गेरुवे कपड़े पहनना, बड़े-बड़े बाल रखना, सात्विक भोजन करना, पृथिवी पर शयन करना तथा स्त्रियों से दूर रहना—इन बातों का मैं विशेष ध्यान रखता था।

मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं किसी स्त्री की ओर कभी देखूँगा ही नहीं। राह चलते भी कोई स्त्री सामने से आती होती, तो मैं आँखें बन्द करके खड़ा रह जाता। कई बार इक्के-ताँगेवालों की गालियाँ भी खानी पड़ीं; किन्तु अपने प्रण पर मैं दृढ़ रहा। मेरे मित्र मेरी हँसी उड़ाते; लेकिन मैंने किसी की परवा नहीं की। मित्रों की क्षुद्र बुद्धि पर मुझे खेद होता था कि ये लोग ब्रह्मचर्य के महत्त्व को तनिक भी नहीं समझते हैं।

कालेज के छात्र ही नहीं, लड़कियाँ भी मेरा मज़ाक उड़ाने से चूकती नहीं थीं। कालेज के मार्ग ही में लड़कियों की पाठशाला थी। मैं बहुत तेज साइकिल दौड़ाता। जिसमें लड़कियों के बाहर निकलने के पूर्व ही मैं घर पहुँच जाऊँ; पर किसी दिन उन लोगों की छुट्टी जल्दी हो जाती, तो मुझे बड़ी देर तक आँखें बन्द किये सड़क पर खड़ा रहना पड़ता। वे लोग इतनी शरारतिन थीं कि 'ब्रह्मचारीजी नमस्ते' की झड़ी लगा देतीं। मेरा मन चाहता था कि कानों में उँगली लगा लूँ। उन लोगों की मधुर वाणी से मेरे शरीर का रोम-रोम झन-

झना उठता। घर आकर आत्म-शुद्धि के लिए मुझे बहुत देर तक गायत्री-पाठ आदि करना पड़ता।

एक बार मैं ससुराल गया। वहाँ पहुँचते ही साली साहबा अपनी सहेलियों के दल-बल के साथ चढ़ आईं और हँसी-मज़ाक करने लगीं। ये बातें ब्रह्मचर्य के लिए बिल्कुल ही प्रतिकूल थीं। लोग ससुराल की ख़ातिरदारियों से प्रसन्न होते हैं, यहाँ मेरा खून सूखा जा रहा था। मेरे लिए रात-दिन सब समान हो गया था। आँख खोलने का समय ही नहीं मिलता था। हर समय साली-सरहज छेड़-छाड़ करती रहतीं। इतना अच्छा था कि भोजन के समय सासजी उपस्थित रहतीं, वरना वे लोग तो मुझे भूखा ही मार डालतीं।

एक दिन सासजी कहीं बुलावे में चली गईं। साली साहबा झम-झम करती आईं। जीजाजी, खाना तैयार है। मुझे भूख नहीं है, तबीयत ख़राब है, पेट में दर्द है, इस प्रकार के अनेक बहाने किये; लेकिन साली साहबा कब पिण्ड छोड़नेवाली थीं। मजबूर होकर मन-ही-मन ओ३म् का जाप करता हुआ उठा।

इतना अच्छा था कि साली साहबा मेरे पीछे-पीछे चल रही थीं। राह में मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ; किन्तु रसोईघर के समीप आज स्त्रियों का जमघट लगा था, यह बात उन लोगों के अट्टहास ने मुझे दूर ही से जतला दी। ख़ैर, मैं सावधान हो गया, और किसी प्रकार रसोईघर में पहुँचा। वे लोग खड़ी थीं, इस कारण उनके चरणों ही पर मेरी दृष्टि पड़ी, वरना आज या तो मेरा व्रत खंडित हो जाता, या ठोकर खाकर मैं राह में गिरता।

मेरे भोजनार्थ आसनी पर बैठते ही वे लोग भी बैठ गईं और लगीं झुक-झुककर मेरा मुँह निहारने। अनेक प्रकार की बातों से उन लोगों

ने मुझे हैरान कर डाला। आप ढेंढ़े तो नहीं हैं, जो मारे शर्म के आँखें बन्द रखते हैं, इत्यादि।

यथाशक्ति उन लोगों ने मुझे ख़ूब बनाया; परन्तु मैंने आँखें न खोलीं। इतने में साली साहबा मेरे सामने थाली रखकर बोलीं—शुरू करिये, देखिये, कहीं मुँह के बजाय नाक में कौर न चला जाय।

पृथ्वीराज ने अन्धे होकर भी अपने निशाने का अद्भुत परिचय दिया था। मैंने सोचा कि आज मैं भी अपने विलक्षण अभ्यास का परिचय दूँगा। हाथ बढ़ाया ही था कि इतने में साले साहब का कंठ-स्वर सुनाई पड़ा—हाँ-हाँ! क्या करते हो? अकचकाकर मैंने हाथ समेट लिया। उन्होंने थाली मेरे सामने से सरका दी। जितनी औरतें बैठी थीं, सब ठहाका मारकर हँस पड़ीं। साले साहब भी हँसने लगे, फिर अपनी बहन को झिड़ककर बोले—यह भी कोई मज़ाक है। साले साहब की आट मे मैंने आँख खोलीं, तो मारे लज्जा के मैं पानी-पानी हो गया। भोजन की थाली नहीं, मेरे सामने तो कढ़ाई में आग भरी रखी थी।

(५)

विवाह के तीसरे वर्ष मेरे लाख सिर धुनने पर भी माताजी गौना लेकर ही मानीं। मैंने अपनी स्त्री के साथ वैसा ही व्यवहार बरतना शुरू किया, जैसा बहन से रखता था। प्रथम तो मैंने सोचा था कि उसकी ओर देखूँगा ही नहीं; लेकिन जब मुझे मालूम हुआ कि मेरी स्त्री बिल्कुल अशिक्षिता है, तो बहुत चिन्तित हो उठा। मेरे विचार स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। पढ़ने-लिखने की यही उम्र है, इसी कारण बहन के साथ ही मैंने उसे भी पढ़ाना शुरू कर दिया। इसमें मुझे कुछ दोष भी नहीं दिखाई दिया। अभी तो मैं उसे धर्मपत्नी समझता ही नहीं हूँ। वह पहले तो सबके बीच में मेरे सामने आने में बहुत

शरमाई ; किन्तु मैंने उसे समझा दिया कि अभी तुम मुझे अपने पति के समान न समझो ; मुझसे किसी प्रकार की लज्जा या परदा मत करो। यह सब फिर कर लेना।

मेरा दृढ़ व्रत देखकर माता-पिता भी अब कुछ बाधा नहीं डालते थे, बल्कि वे भी इस बात की चेष्टा करते कि मैं ब्रह्मचर्य-आश्रम को यथाक्रम पूरा कर सकूँ। कुछ ही दिनों की तो बात है।

अब अपने समय का बहुत-सा भाग मैं उसे पढ़ाने में ही ख़र्च करने लगा। स्त्री के हृदय में मेरे प्रति असीम श्रद्धा थी, मेरी आज्ञा को वह ब्रह्म-वाक्य मानती थी। बेचारी बहुत परिश्रम करके पढ़ने लगी। जब तक मैं उसे पढ़ना समाप्त करने की आज्ञा न देता, वह कदापि न उठती। हाँ, बहन पढ़ने की उतनी शौकीन न थी। वह अभी छोटी भी थी। उकताकर बिना मेरी आज्ञा के भी कभी-कभी भाग जाया करती। इस कारण मज़बूर होकर मुझे कभी-कभी एकान्त में भी अपनी स्त्री को पढ़ाना पड़ता था।

उसकी बुद्धि की तीव्रता पर मैं इस प्रकार मुग्ध था कि मन चाहता था कि हर समय उसे पढ़ाने के अतिरिक्त और कोई काम ही न करूँ, बल्कि इस आनन्द में मैं इतना डूब गया कि मुझे यह ज्ञान ही न रहा कि अब पढ़ाई किस ढग की चल रही है। अब सोचता हूँ कि पढ़ाई तो नाममात्र को होती थी। हाँ, पुस्तक लेकर उसे आँखों के सामने बिठाकर ख़ूब घुल-घुलकर बातें होती थीं। और आँखों द्वारा उसकी रूप-माधुरी का पान भी करता था।

जाड़े के दिन थे। दिन में कालेज ही से अवकाश नहीं मिलता था। रात में मैं दोनों को अपने छतवाले कमरे में पढ़ाया करता था। एक दिन पढ़ाते-पढ़ाते मैं ऊँघ गया। बहन को नींद आ रही थी,

अवसर मिल गया, वह नीचे भाग गई। बेचारी स्त्री मेरी आज्ञा के बिना कैसे जाती, बैठी रही।

बारह बजे के क़रीब जब मेरी आँखें खुलीं, तो देखा, मेज पर सिर रखे वह भी सो गई है। नींद की बेसुधी में उसका मुख कितना प्यारा लग रहा था। अपलक दृष्टि से मैं कुछ देर तक उसकी ओर निहारता रहा, फिर मुझे ख़याल आया, जाड़े में बेचारी ठिठुर गई होगी, शाल भी नहीं ओढ़े है।

मैंने अपने हाथ से उसका सिर उठाकर उसे जगा दिया। उस समय यह ध्यान ही न रहा कि इसके शरीर को स्पर्श न करना चाहिये। सोचा, उसे सोने नीचे भेज दूँ ; किन्तु उसके शरीर के स्पर्श ने मेरे सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ा दी। मैं बिल्कुल बेसुध हो गया।

वह बेचारी घबरा गई—यह क्या ? मेरा हाथ छोड़िये, अपना प्रण क्या भूल गये ? आप तो कहते...

अधिक वह कुछ कह न सकी। लज्जा से उसकी आँखें झुक गईं।

बहुत से दिन आनन्दपूर्वक गुज़र गये। उसके प्रेम के स्वर्गीय सुख में मुझे अपने व्रत टूटने का कुछ भी ग़म नहीं था। बिल्कुल निश्चिन्त था ; किन्तु एक दिन दोपहर को कालेज से लौटकर घर आया, तो क्या देखता हूँ, वह मेरे पलंग पर पड़ी खूब रो रही है। मेरे पूछने पर लजाकर कहने लगी—तुम तो अपनी शर्म को लेकर ख़ामोश बैठे रहोगे, उधर मुझ पर क्या बीत रही है, जानते हो ?

मैंने कहा—क्या बात है ?

'जानते तो हो, कब तक छिपेगा ? माताजी मुझे कलंक लगाती हैं। आज बहुत नाराज़ हुई हैं। कहती हैं, तू अपने बाप के घर जा।

तेरे लिए मेरे घर में स्थान नहीं हैं। दूसरों की दृष्टि में तो तुम ब्रह्मचारी बने हो और मैं ?'

मैं बहुत-ही चिन्तित हो उठा। मारे शर्म के कुछ करते-धरते न बनता था। उसी समय क्रोध से सुर्ख़ माताजी आ पहुँचीं—इस राक्षसी बहू के लच्छन देखे...

लज्जा से मैं धरती में गड़ गया। आँखे ऊपर न उठ सकीं। मैंने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—मा, माफ़ करो। इसमें दोष मेरा है, उसका नहीं।

माताजी का सारा क्रोध काफ़ूर हो गया। वे ख़ुशियाँ मनाने लगीं मैंने बहुत खुशामद-मिन्नत से जब तक छिप सके, छिपाने के लिए घर वालों को राज़ी किया; किन्तु कब तक छिपता! बच्चा पैदा हुआ और सारे शहर में मेरी ख़ूब भद्द हुई। मित्रों ने वह-वह चुटकियाँ लीं कि क्या बताऊँ। मैंने आर्यसमाज से इस्तीफा दे दिया। बहुत दिन कालेज नहीं गया। उस दिन से मेरा जीवन ही बदल गया। वह लज्जा किसी प्रकार दूर ही नहीं होती है। आज तक मैं सबसे मुँह छिपाता हूँ और सभा-सोसाइटियों से तो बहुत ही दूर भागता हूँ। ईश्वर अब कभी किसी समाज के चक्कर में मुझे न डाले।'

वकील साहब की दिलचस्प कहानी के साथ आनन्दप्रद पिकनिक समाप्त हुई। उस दिन से लड़के बराबर वकील साहब को परामर्श देते हैं कि आप अपनी यह बात सबको आज़ादी से सुना दिया करें, तो कुछ ही दिनों में यह निगोड़ी शर्म आप ही भाग जायगी, व्यर्थ में झेंप-झेंपकर अपना जीवन नीरस क्यों बनाते हैं?